जैसे थे । दोनों की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियां एक जैसी थीं । कोई स्थायी शासन व्यवस्था नहीं थी । दैनिक परिवर्तन होता था, आज एक व्यवस्था बनती और कल बिगड़ जाती । कोई भी मनचला बदमाश छोटी-मोटी सेना बनाकर राज करने के स्वप्न देखने लगता । हर रजवाड़े में आए दिन षड्यंत्र रचे जाते, बगावत होती, हत्याएं की जातीं, राज का पासा पलट जाता । वहां के दलित-दयनीय समाज के भाग्य में रहा क्रूर सत्तावाद, अन्याय और अत्याचार । मकाले के मतानुसार अंग्रेज सरकार के आने से पहले भारत की भी यही दशा थी । अंग्रेजों के आने के बाद इस गले-सड़े समाज का पुनरुद्धार प्रारंभ हुआ और इस प्रकार एक महान् और ऐतिहासिक परंपरा का नया जन्म हुआ । अराजकता के स्थान पर राजव्यवस्था, अन्याय के स्थान पर न्याय, यह थी महान ब्रिटिश क्रांति । मकाले लिखते हैं कि मैं भारत में एक ऐसी सरकार देख रहा हूं जो वहां की जनता की सेवा करने के लिए लालायित है और यदि उस सरकार से भारत के प्रति कुछ गलतियां भी हो गई हों तो उनमें भी मुझे एक ऐसी भावना ही दिखाई दे रही है जिसके माध्यम से उसने अपनी प्रजा की सेवा करने का प्रयास ही किया है ।

इसी प्रकार भारत की सेवा का प्रयास मकाले कर रहे थे—शिक्षा के माध्यम से । हम पहले कह चुके हैं कि चार्ल्स ग्रांट का प्रयास था कि अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से सारे भारत को ईसाई बना लिया जाए और आशा थी कि बन लिया जाएगा । किंतु वे ईसाइयत के माध्यम से बाइबल-संदेश के सथ-साथ भारत की आर्थिक, सामाजिक और बौद्धिक उन्नति को भी ईशु भगवान की देन समझते थे । ईसाइयत के प्रति उनका एक व्यापक दृष्टिकोण था और धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति सभी को वे व्यापक मानवीय उन्नति के रूप में देखते थे । किंतु वे आधारभूत रूप से इवांजलिस्ट थे और इसीलिए धर्म-प्रचार को मुख्य स्थान देते थे । मकाले भी धर्म-प्रचार के समर्थक तो थे, किंतु वे बौद्धिक और सांस्कृतिक कायाकल्प को प्रथम स्थान देते थे । वे चाहते थे कि धर्म-प्रचार सीधा न करके गौण रूप से कर लिया जाए । यदि शिक्षा के माध्यम से ही जर्जर देव-दानवों को अपने स्थान से लुढ़का दिया जाए अर्थात् भारत के हिंदुओं की इच्छा, विश्वास और परंपरा को एक धक्का पहुंचाया जा सके तो आधे से ज्यादा धर्मयुद्ध तो अपने आप संपन्न हो जाएगा ।

धार्मिक और सांस्कृतिक इस दो प्रकार की विजय में से सांस्कृतिक विजय एक और कारण से आवश्यक थी और उस कारण की दृष्टि से गुरु-चेला दोनों पक्के वणिक थे । ग्रांट मानते थे कि संसार के नियंता ने इतने दूरवर्ती भारत देश का राज्य अंग्रेज को इसलिए सौंपा है कि वे भारत से धन अर्जन करने के साथ-साथ उसको सच्चे धर्म, ज्ञान, सुख, सत्य और सभ्यता का दान दे सकें । ऐसी पारमार्थिक सेवा करने से वे अपने मुख्यतम लक्ष्य की प्राप्ति भी कर पाएंगे । वह लक्ष्य था इंग्लैंड के व्यापार की वृद्धि । मकाले ने उसी प्रकार इस विषय पर गंभीर विचार किया । उन्होंने शिक्षा और सभ्यता के विरोधी तत्त्वों का उत्तर देते हुए कहा कि भारत में शिक्षा के माध्यम से सभ्यता का प्रचार करके हमें जो लाभ होंगे उनका अनुमान लगाना भी अभी तो आसानी से संभव नहीं है । मान लीजिए, भारत कभी आजाद भी हो गया । यदि हम बिल्कुल स्वार्थी होकर

भी सोचें तो उसमें भी हमारा फायदा ही होगा । भारत हमारे अधीन रहे पर वहां अविद्या, अंधकार और अंधविश्वास के कारण सुराज्य न हो इससे अच्छा तो यह होगा कि भारत स्वतंत्र हो और वहां सुराज्य हो । क्यों ? सुराज्य का अर्थ है सभ्य और सुसंस्कृत समाज । हमारे लिए अच्छा यही होगा कि भारत का अपना स्वतंत्र शासन भले ही हो पर वहां के लोग सभ्य बनें और हमारा कपड़ा पहनें और हमारी कटलरी का प्रयोग करें । इसमें कहां की बुद्धिमत्ता है कि शिक्षा के बिना भारत के लोग निर्धन और अल्हड़ बने रहें और अंग्रेज मजिस्ट्रेटों और कलेक्टरों को सलाम तो झुकाएं किंतु हमारे देश में बनी वस्तुओं के न तो मूल्य को समझ सकें और न ही उन्हें खरीद कर प्रयोग कर सकें ।[7] शिक्षा, सभ्यता, व्यापार—राज की आचार-संहिता के तीन महत्त्वपूर्ण अंग थे ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ग्रांट और उनके पश्चात् उनके साथी कंपनी डायरेक्टर, मिशनरी, प्रशासक और व्यापारी सभी इन रूपों में अपना काम विचारपूर्वक करते रहे और शिक्षा को अपने लक्ष्य की प्राप्ति का साधन बनाने का प्रयास करते रहे । वैसे ही मकाले भी उसी दिशा में दृढ़संकल्प होकर भारत आए । वे भारत को पश्चिमी विशेषकर अंग्रेजी जामा पहना कर ऐसी नई सभ्यता के रंग में रंगना चाहते थे जिसके लिए रंग और कपड़े दोनों इंग्लैंड से मंगवाने थे । सभ्यता के रंग को चढ़ाने के लिए मानसिक परिवर्तन आवश्यक था । मानसिक परिवर्तन से सांस्कृतिक परिवर्तन अवश्य होना था और संस्कृति का साकार रूप सभ्यता के रूप में व्यक्त होना था । वह साकार रूप हिंदू कालेज और स्कॉटिश चर्च कालेज के युवकों के जीवन में दीख रहा था । मकाले वाणी और लेखनी दोनों के धनी थे । वाणी का चमत्कार वे 1833 में संसद में दिखा चुके थे । लेखनी भारत में आने पर उठाई और सीधा प्रहार करके लक्ष्यवेध कर डाला ।

7. देखिए : मकाले, 'वर्क्स', XI, पृ० 584

10
लक्ष्य-वेध—मकाले का शिक्षा-प्रस्ताव

मकाले 1830 में पार्लमेंट में आए । 1832 और 1833 में उन्होंने रिफार्म बिल और कंपनी के चार्टर से संबद्ध इंडिया ऐक्ट (1834) पर काम किया । 1834 में ही वे भारत के गवर्नर-जनरल की कौसिल के सदस्य बनाए गए । वे बोर्ड आफ कंट्रोल के मंत्री पहले ही रह चुके थे । जून 1834 में वे भारत पहुंचे । गवर्नर-जनरल की कौसिल में वे विधि-सदस्य बने और साथ में सामान्य लोक-शिक्षा समिति के अध्यक्ष । भारत आने से पूर्व ही वे शिक्षा संबंधी सभी समस्याओं से परिचित थे । अपने धर्मगुरु चार्ल्स ग्रांट के शिष्य के रूप में उनके सुपुत्र चार्ल्स ग्रांट जूनियर (अध्यक्ष, बोर्ड आफ कंट्रोल) के साथ बोर्ड के सेक्रेटरी के रूप में कार्य करने के कारण, एवं व्हिग पार्टी के सदस्य के नाते उदार विचारधारा रखते हुए भारत शिक्षा नीति के संबंध में वे सजग और दृढ़संकल्प थे ।

मकाले भारत से अत्यंत प्यार भी करते थे, वैसे ही जैसे कोई बड़ा जमींदार अपनी जायदाद पर विहंगम दृष्टि डाल कर उस पर गर्व करता है । यहां की भाषा, सभ्यता, साहित्य और संस्कृति से उन्हें जितनी चिढ़ थी उतना ही प्यार और गर्व उनको यहां की भूमि और जन-समुदाय को देखकर ब्रिटेन की आर्थिक और राजनीतिक प्रगति की संभावनाओं पर था । वे पूरी तैयारी के साथ आए थे और आते ही वामा सरस्वती का आशीर्वाद लेकर वाग्युद्ध के लिए शिक्षा के क्षेत्र में उतर पड़े ।

अर्जुन की तरह सिवाय अपने लक्ष्य के उन्हें और कुछ नहीं दीखता था । अंग्रेजी भाषा, अंग्रेजी साहित्य के सिवाय उन्हें कोई और भाषा, साहित्य, संस्कृति इत्यादि कुछ दीखता ही नहीं था । और यदि दीखता भी था तो उसे तुच्छ समझकर अपनी पूरी शक्ति से गिरा देना चाहते थे । यदि हम उनके शिक्षा-प्रस्ताव का अध्ययन करें तो पता चलेगा कि उनके मन में इन बातों का विचार सर्वोपरि था :

1. भाषा
2. साहित्य
3. भाषा और साहित्य की वर्तमान स्थिति
4. भाषा और साहित्य की भावी संभावनाएं, अर्थात् उनका विकास और भावी शक्तियां ।

उन्हें केवल एक सुअवसर की प्रतीक्षा थी । वह उन्हें शीघ्र ही मिल गया ।

मकाले जब भारत पहुंचे तब अंग्रेजी शिक्षा पद्धति और भारतीय शिक्षा पद्धति के समर्थकों में विवाद चल रहा था । भारतीय पद्धति के समर्थक संस्कृत और अरबी भाषाओं के माध्यम से प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति को पुनः चलाना चाहते थे और उसी परंपरा के अंतर्गत पाश्चात्य विषयों को प्राचीन भाषा के माध्यम से पढ़ाने के पक्ष में थे । अंग्रेजी पद्धति के समर्थक इसके विपक्ष में थे । वे भारतीय पुराण और पौराणिक काव्य इत्यादि के विरोधी थे और सारी परंपरा को झूठा, अनैतिक और वाहियात समझते थे । अदालतों में चल रहा मुगलकालीन फारसी भाषा का प्रयोग उन्हें बिल्कुल पसंद नहीं था । उन्हीं के फारसी-विरोध के कारण प्रशासन में इतना परिवर्तन कर दिया गया था कि जिलास्तर तक की अदालती कार्यवाही उर्दू इत्यादि लोकभाषाओं में चलाई जाए । साथ में यह विवाद भी चल रहा था कि कलकत्ता मदरसा और बनारस संस्कृत कालेज में अंग्रेजी भाषा अनिवार्य रूप से पढ़ाई जाए या ऐच्छिक रूप से । भारतीय शिक्षा पद्धति के समर्थक केवल ऐच्छिक अंग्रेजी तक तैयार थे । अंग्रेजी के समर्थक उसे अनिवार्य रूप में चाहते थे । डायरेक्टर्ज के आदेशों और अंग्रेजी के राजभाषा बनाए जाने के संकेत मिलने के बावजूद भारतीये पक्ष ढीला नहीं पड़ा था । एच०टी० प्रिंसप तो शिक्षा समिति के मंत्री थे । वे स्वयं भारतीय भाषा और पद्धति के समर्थक थे । किंतु मकाले महोदय के आने के पश्चात् अंग्रेजीवादियों की आशाएं और हौसले बुलंद हो गए ।

दोनों पक्ष अपने विचार और संकल्प में दृढ़ थे । भारतीय पक्ष 1813 के चार्टर ऐक्ट की धारा 43 के आधार पर कहता था कि एक लाख रुपया प्राचीन साहित्य के विकास और उसी साहित्य के पंडितों के प्रोत्साहन पर व्यय किया जाना चाहिए । यदि विज्ञान पढ़ाना है तो पहले भारतीय भाषाओं में पाठ्य विषय का अनुवाद करो और फिर उसे पाठ्यक्रम में डालो ताकि वह प्राचीन माध्यम से ही पढ़ाया जा सके । कुछ लोग आधुनिक भाषाओं के माध्यम से पढ़ाने का समर्थन भी करते थे । वे कहते थे कि भारतीय लोगों के अपने विचारों, भावनाओं और परंपराओं की अवहेलना करना ठीक नहीं होगा । अस्तु जो भी उनका दृष्टिकोण शिक्षा-भाषा, शिक्षा-वस्तु और शिक्षा-उद्देश्य के संबंध में था उसका आधार 1813 का प्रस्ताव ही था । नवीनवादी (अंग्रेजीवादी) नई उभरती विचारधारा पर बल देते थे, और परंपरावादी प्राचीन भाषा-साहित्य संबंधी विचारधारा पर । भावी नीति की कोई रूपरेखा निश्चित रूप से सामने नहीं आ पा रही थी । परिणाम यह हुआ कि दैनिक काम-काज चलना भी कठिन हो गया ।

अंत में प्रश्न अंग्रेजी माध्यम पर आकर अटक गया । प्रश्न यह खड़ा हो गया कि शिक्षा में अंग्रेजी भाषा माध्यम अनिवार्य हो या ऐच्छिक । इसके अतिरिक्त संस्कृत, अरबी के साहित्य के अनुवाद और प्रकाशन पर रुपया खर्च किया जाए या नहीं ।[1] मकाले शिक्षा समिति के अध्यक्ष थे इसलिए बैंटिंक ने ये सारे प्रश्न और समस्याएं परामर्शार्थ उनके पास भेज दिए ।

मकाले तो पक्के अंग्रेजीवादी थे और भारतीय पक्ष के कट्टर विरोधी । उन्होंने पहले तो

1. देखिए : शार्प, 'सलेक्शंज फ्रॉम एज्यूकेशनल रिकार्ड्स', पार्ट I, पृ० 125-26, 132-36

भारतीय पक्ष के तर्क के आधार को ही नष्ट कर दिया ताकि आगे चलकर जो भी दलील वे अंग्रेजी पक्ष में देने वाले थे वह अपने आप में दृढ़ बनकर मान्यता प्राप्त कर सके। इसलिए पहले उन्होंने 1813 के चार्टर ऐक्ट की धारा 43 पर एक निर्णयात्मक टिप्पणी लिखी। उन्होंने कहा कि 43वीं धारा में प्रयोग किए 'लिट्रेचर' शब्द का आशय है 'इंग्लिश लिट्रेचर'। उसका आशय संस्कृत या अरबी साहित्य नहीं है। साथ में 'लर्निड् नेटिव्ज आफ इंडिया' का आशय है अंग्रेजी भाषा साहित्य और पाश्चात्य साइंस और दर्शन के पंडित, न कि केवल संस्कृत और अरबी भाषा और साहित्य के विद्वान। इस प्रकार 'रिवाइवल एंड इंप्रूवमेंट आफ लिट्रेचर' का अर्थ अपने आप हो गया—अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन का विकास और प्रसार। प्राचीन साहित्य का पुनरुद्धार कार्य समाप्त। मकाले जानते थे कि यदि 1813 के प्रस्ताव में से 'भारतीय भाषा और साहित्य एवं उसके पंडित' इस आशय रूपी आधारशिला को ही हटा दिया जाए तो शेष लड़ाई तो स्वतंत्र तर्क के आधार पर लड़ी जा सकेगी। वाग्युद्ध में तो वे निपुण थे ही।

1813 के प्रस्ताव की धारा 43 की तोड़ा-मरोड़ी के बाद मकाले ने सारे प्रश्नों को एक ही बिंदु पर केंद्रित कर दिया : कौन-सी भाषा (साहित्य) जानने और पढ़ने योग्य है ? अरबी अथवा आधुनिक भारतीय भाषाएं अथवा अंग्रेजी ?

सबसे पहले उन्होंने हिंदी इत्यादि आधुनिक भारतीय भाषाओं को ही सामने से हटा दिया। उन्होंने शिक्षा समिति की चर्चा करते हुए लिखा कि सभी पक्ष एक बात पर तो सहमत दिखाई देते हैं और वह यह है कि जो भी भाषाएं भारत में प्रायः जनसामान्य में बोली जाती हैं उनमें न तो कोई साहित्यिक और वैज्ञानिक विषय-वस्तु है और न ही वे भाषा रूप में समृद्ध हैं। वे सभी इतनी निर्बल, अविकसित और गंवारू हैं कि जब तक किसी और भाषा की सहायता से उनका विकास करके उन्हें सशक्त नहीं बनाया जाएगा तब तक उनमें किसी भी समृद्ध साहित्य का अनुवाद करना संभव नहीं होगा।[2] इस प्रकार नई भाषाएं तो एक ही वाक्य में रास्ते से हटा दी गईं।

अंग्रेजी के विपक्ष में रह गईं संस्कृत और अरबी। मकाले ने मुख्य प्रहार संस्कृत भाषा, संस्कृत साहित्य और उनसे संबद्ध धर्मशास्त्र तथा धार्मिक परंपरा पर किया—संभवतः यह समझकर कि यदि संस्कृत को किसी प्रकार परास्त कर दिया गया तो अरबी तक पहुंचने की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी।

कौन-सी भाषा पढ़ने और जानने योग्य है, इस प्रश्न को मकाले ने शिक्षा-माध्यम के साथ जोड़ दिया। संस्कृत और अरबी के पक्ष में जो लोग थे वे भी इन भाषाओं को शिक्षा के माध्यम रूप में ही अपनाए जाने पर बल दे रहे थे। इसलिए मकाले ने लिखा कि शिक्षा समिति के आधे सदस्य तो माध्यम रूप में अंग्रेजी के पक्ष में हैं और आधे बलपूर्वक संस्कृत और अरबी के पक्ष में हैं। प्रश्न तो सारा यह है कि कौन-सी भाषा जानने योग्य है ?[3]

इस प्रश्न में एक और प्रश्न निहित है। हमें उस पर विचार करना आवश्यक है। भाषा,

2, 3. देखिए : 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', VI, पृ० 100

साहित्य और शिक्षा का उद्देश्य क्या है ? भारतीय परंपरा में इन सभी का उद्देश्य था धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। पाश्चात्य परंपरा में उद्देश्य मुख्यतया अर्थ और काम था। केवल इतना ही कहना यदि ठीक न लगे, क्योंकि सेंट फ्रांसिस जैसे त्यागी और तपस्वी भी तो यूरोपियन क्रिश्चियन परंपरा की ही देन थे, फिर भी यह कहना तो गलत नहीं होगा कि क्रिश्चियन अहिंसा और अपरिग्रह के संदेश को यूरोपियन शक्ति-सामंतों और धर्माध्यक्षों के हिंसात्मक संघर्ष ने धूमिल कर डाला था। यह कहना प्रायः ठीक होगा कि भारत के आंतरिक दर्शन और बाह्य परिवेश में जैसे हमारी परंपरा रही है शांति, संतोष और अपरिग्रह, वैसे ही भयंकर प्रकृति और शक्ति व्यवस्था के परिवेश में यूरोप की परंपरा रही है शक्ति, संघर्ष और विस्तार।

हम यह भी कह सकते हैं कि जैसे धर्म और मोक्ष की तलाश में भारत के लोग अर्थ और काम को प्रायः भूल बैठे, वैसे ही यूरोप के अर्थ और काम की तलाश में व्यस्त लोग धर्म और मोक्ष को भूल गए। सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परंपराओं के इसी लंबे-चौड़े अंतर के आधार पर मकाले ने इस प्रश्न का उत्तर दिया कि कौन-सी भाषा को पढ़ना-पढ़ाना उचित और श्रेयस्कर होगा—संस्कृत या अंग्रेजी ?

मकाले का उत्तर—अंग्रेजी, निस्संदेह अंग्रेजी। मकाले यह मानते थे कि किसी भी भाषा और साहित्य के अध्ययन-अध्यापन का मूल्य उसकी आर्थिक और सामाजिक शक्तियों और उपलब्धियों में खोजना चाहिए। उन्होंने संस्कृत पढ़ने और पढ़ाने वालों की ओर संकेत किया और कहा कि इन सबके लिए इनकी शिक्षा और विद्या का कोई मूल्य नहीं है। इनकी विद्वत्ता इनके लिए एक भार ही नहीं अपितु अभिशाप बनकर रह गई है। वे जब तक पढ़ते हैं तब तक समाज पर बोझ बने रहते हैं और जब वे अपना अध्ययन समाप्त कर चुकते हैं तो उनकी विद्या इतनी बेकार और निरर्थक होती है कि जीवन पर्यंत वे या तो भूखे मरते हैं या समाज के आश्रय पर रहते हैं।[4] मकाले निर्धनता से नफरत करते थे और यदि कोई भाषा या शिक्षा मनुष्य को आर्थिक समृद्धि और सामाजिक मान प्राप्त न करा सके तो वे उसका समर्थन करने के लिए कभी तैयार नहीं होते थे। केवल दान-दक्षिणा के आधार पर कोई शिक्षा पद्धति सफल नहीं हो सकती। केवल त्यागी और तपस्वी उत्पन्न करने वाली शिक्षा उनके विचार में शिक्षा नहीं थी। वे जानते थे कि शक्ति और संपन्नता केवल अंग्रेजी के माध्यम से ही प्राप्त होगी। अतएव अंग्रेजी, और कुछ नहीं।

ऐसी बात नहीं है कि मकाले त्याग और तपस्या का आदर नहीं करते थे, करते थे। किंतु उसी त्याग और तपस्या का आदर करते थे जो इंग्लैंड के अग्रणी नेताओं, शासकों और योद्धाओं ने अपने देश के शक्ति-विस्तार के लिए प्रतिपक्षियों के साथ जूझते हुए युद्ध या प्रशासन के क्षेत्र में दिखाई थी। इंग्लैंड के नवीन और उभरते हुए इतिहास के चमकते हुए ऐसे त्यागी और तपस्वी सितारे थे—हेस्टिंग्ज़, क्लाइव, एल्फिंस्टन, मनरो इत्यादि। मकाले जब इनका चिंतन करते थे तो उनका हृदय हर्ष से गद्गद हो उठता था और श्रद्धा से उनका सिर झुक जाता था। वे लोग चरित्र के धनी थे। उन्होंने सब लोभ-लालच त्याग कर करोड़ों लोगों पर हुकूमत की, सेनाओं का नेतृत्व

4. देखिए : 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', VI, पृ० 17

किया और विजय प्राप्त करके बड़े-बड़े सिरफिरे रजवाड़ों को सिर झुकाने पर मजबूर कर दिया। ये लोग बड़े-बड़े राजाओं के दरबार में रहकर तथा बड़े-बड़े जमींदारों के भाग्य का निर्णय करके जब स्वदेश लौटे तो क्या लेकर ? केवल चरित्र की संपत्ति, और कुछ नहीं।[5] मकाले त्याग और तपस्या का आदर तो करते थे किंतु केवल ब्रिटिश इतिहास में सराहनीय काम करने वाले वीरों का। इसके विरुद्ध उनके मतानुसार, संस्कृत के पढ़ने वाले त्यागी और तपस्वी नौजवान केवल कर्मकांड की खोखली और व्यर्थ की उलझनों में उलझे रहते थे, और अपने जीवन को केवल इतना सीखने में बर्बाद कर देते थे कि गधे को हाथ लग जाए तो शुद्ध कैसे हों या हाथ से कोई बकरी मर जाए तो पश्चात्ताप कैसे करें और कौन-से वेदमंत्र का जाप करें।[6] ऐसे त्याग, तपस्या और खोखले शिक्षाशास्त्रियों पर मकाले को शर्म आती थी।

मकाले भारत पर गर्व तो करते थे किंतु ब्रिटिश साम्राज्य के अंग के रूप में और विशेषकर अंग्रेज वीरों की अद्वितीय भारत विजय के स्थायी उपहार के रूप में। जब वे भारत की ओर देखते और भारत विजय का ध्यान करते तो कल्पना के बादलों में तैरने लगते या अतीत की गहराइयों में उतरकर उन वीरों का सिंहनाद सुनने लगते जिन्होंने भारत के इतिहास को एक अद्भुत मोड़ दिया था। सात समुद्र पार, धरती के दूसरे छोर पर, एक ऐसा देश जो यूरोप के लिए केवल परियों की कहानी का विषय बना हुआ था, ऐसी भूमि जिसे पश्चिमीय विजयाधीश छू नहीं पाए थे, जहां पर रोमन कदम नहीं रख पाए थे और सिकंदर महान की सेना ने आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया था, जनधन में यूरोप के चार-चार देशों से बड़ा, रेवेन्यू की दृष्टि से फ्रांस को छोड़ दुनिया के किसी भी देश की अपेक्षा समृद्ध, जहां के लोग जाति, रंग, भाषा, सभ्यता, धर्म और आचरण सब तरह से भिन्न, ऐसे अद्भुत और विशाल देश पर हथेली के बराबर टापू से निकले मुट्ठी-भर अंग्रेज वीरों ने विजय प्राप्त कर ली : इंग्लैंड के वास्तविक इतिहास की यह गाथा परियों की कहानी से कम नहीं थी। बुद्धि काम नहीं करती, स्वयं इतिहास के पास इसका जवाब नहीं। 10 जुलाई, 1833 को भारत शासन संबंधी प्रस्ताव पर बोलते हुए मकाले ने ये शब्द कहे थे[7] :

जिस संस्कृति के पुजारी इतिहास को मोड़ न दे सकें, उस देश की भाषा, शिक्षा, सभ्यता सब बेकार। न ही उस देश का कोई इतिहास हो सकता है। किसी भी संस्कृति और उस संस्कृति की अभिव्यंजक भाषा, शिक्षा, साहित्य और सभ्यता की समृद्धि का अनुमान उस संस्कृति के अनुयायियों की उपलब्धियों से लगाया जा सकता है और मकाले के मतानुसार उनकी वास्तविक उपलब्धियों का अनुमान उनकी वर्तमान दशा और साहित्य में विद्यमान इतिहास से लगाया जा सकता है। मकाले ने शिक्षा-प्रस्ताव लिखते समय यही प्रतिमान सामने रखा और संस्कृत पंडितों की दयनीय निर्धनता को देखने के बाद संस्कृत साहित्य में विद्यमान इतिहास साहित्य को देखा।

5. मकाले, वर्क्स, XI, पृ० 567
6. देखिए : 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', VI, पृ० 15
7. मकाले, वर्क्स, XI, पृ० 559

उन्हें दीखता भी क्या और कैसे ? इतिहास पौरुषेय ज्ञान है जो सामाजिक चेतना और चित्तवृद्धों की अभिव्यक्ति करता है। ऊंची उड़ान भरे तो भी इतिहास केवल युगधर्म का प्रवर्तक हो सकता है, सनातन का नहीं। भारत ने तो युगधर्म के माध्यम से भी सनातन की ही उपासना की है। सनातन अपौरुषेय और कालातीत है। हमारे इतिहास-पुराण भी युगीन के माध्यम से सनातन का प्रतिपादन करते हैं। यदि कोई भी इतिहास या पुराण ग्रंथ सनातन का प्रतिपादन नहीं करता तो केवल मात्र कहानी के रूप में मनोरंजन का साधन बनकर रह जाता है। हमारे लिए सर्वश्रेष्ठ ज्ञान वेद है और वेद अपौरुषेय ज्ञान है जो सार्वभौम और सर्वकालीन है। युगप्रवर्तक स्वामी दयानंद ने वेद की अपौरुषेयता को दूसरे शब्दों में जब व्यक्त किया तो यह कहा कि वेद में इतिहास नहीं है। उसी परंपरा में स्वामी विवेकानंद ने कहा कि मनुष्य की अंतिम उपलब्धि है ब्रह्म-प्राप्ति। इतिहास सामूहिक चित्तवृत्तियों के निरंतर प्रवाह का साकार है और ब्रह्म-प्राप्ति चित्तवृत्ति-निरोध और उसके पार निराकार में अवस्थान। मकाले के अनुरूप शब्दों में पौरुषेयता का अपौरुषेयता में विलय हो जाना अथवा ऐतिहासिक साहित्य का शून्य हो जाना। मकाले ने भारतीय साहित्य, जो देखा या नहीं देखा या उसके बारे में जो सुना या नहीं सुना, उसके आधार पर लिख मारा कि संस्कृत ग्रंथों से जितनी भी ऐतिहासिक सामग्री इकट्ठी की जा सकती है उसका मूल्य इतना भी नहीं है जितना इंग्लैंड के प्रारंभिक स्कूलों की छोटी पुस्तिकाओं में मिल सकता है।[8] भारत का धर्मक्षेत्र एक ओर था, मकाले का कुरुक्षेत्र दूसरी ओर।

मकाले ने संस्कृत इतिहास के मूल्यांकन के पश्चात् सारे संस्कृत साहित्य की तुलना सैक्सन और नार्मन साहित्य से कर डाली और लिख दिया कि समस्त संस्कृत साहित्य इतना समृद्ध नहीं है जितना हमारे सैक्सन नार्मन पूर्वजों का है। उदाहरणार्थ, इतिहास में तो वह और भी कम है।[9] अब भी मानो वे संस्कृत साहित्य का पूरा मूल्यांकन नहीं कर पाए थे, इसीलिए वे और आगे बढ़े और यहां तक लिख गए कि किसी भी यूरोपियन लाइब्रेरी की एक अलमारी में जो साहित्य रखा है वही सारे भारत और अरब देश के साहित्य के बराबर है।[10]

केवल एक प्रश्न और रह गया था। यदि ऐतिहासिक साहित्य अथवा कोई और काम का साहित्य बहुत थोड़ा है तो जो कुछ भी है वह कैसा है ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए उन्होंने एक ही वार से दो प्रहार किए—एक से तो संस्कृत साहित्य को और नीचे की ओर गिराया और दूसरे से संस्कृत के समर्थकों की कमर तोड़ी। संस्कृत के समर्थकों का कहना था कि अंग्रेजी पढ़ाना इसलिए ठीक नहीं होगा, क्योंकि भारत के लोग संस्कृत से श्रद्धापूर्वक जुड़े हैं और अंग्रेजी का विरोध करेंगे। अंग्रेजी के पक्ष में लोग आने तो लगे थे उत्साहपूर्वक किंतु फिर भी मकाले कोई प्रश्न खुला नहीं छोड़ना चाहते थे। इसलिए पहले उन्होंने अपने साथियों को उनके कर्तव्य की याद दिलाई। उन्होंने लिखा कि लोकशिक्षा बोर्ड होने के नाते उन्हें यह सोचना चाहिए कि क्या वे उस साहित्य के प्रकाशन में रुपया बर्बाद करें जिसका मूल्य इतना भी नहीं है जितना उस

8. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', VI, पृ० 10
9, 10. वही, पृ० 12 1

कागज का है जिस पर वह छपा है ? साथ में यह भी उन्होंने पूछा कि ऐसे साहित्य को पढ़ाने से क्या लाभ जिसमें झूठे इतिहास, झूठे ज्योतिष और झूठे आयुर्वेद के सिवाय और कुछ भी नहीं है ? क्या उसे केवल इसीलिए पढ़ाते चले जाएं कि वह एक झूठे धर्म से जुड़ा है और साथ में वाहियात अंधविश्वास को जन्म देता है ?[11]

संस्कृत भाषा, संस्कृत साहित्य, संस्कृत विद्वान और उनकी वर्तमान दयनीय दशा और भावी निराशा सबको अपने और बैंटिंक के लिए बड़े ही नाटकीय ढंग से पेश कर चुकने के पश्चात् मकाले को अंग्रेजी के पक्ष को सबल रूप से सामने रखना था । उन्होंने बलपूर्वक लिखा कि अंग्रेजी भाषा के महत्त्व पर विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है । पश्चिम की भाषाओं में भी उसका स्थान मुख्यतम है । इस भाषा में कल्पना साहित्य की ऐसी कृतियां विद्यमान हैं जो यूनान के महानतम ग्रंथों से कम नहीं है । इसमें साहित्य की सभी विधाओं के सुंदरतम माडल विद्यमान हैं, ऐसी ऐतिहासिक कृतियां जो कथा साहित्य के रूप में सर्वश्रेष्ठ हैं और आचार-संहिता और राजनीतिशास्त्र के रूप में अद्वितीय है । उनमें मानव जीवन और मानव स्वभाव के सही और सुंदर प्रतिबिंब सर्जित किए गए हैं । दर्शन, नीति, प्रशासन, विधि-विधान, व्यापार आदि सभी विषयों पर गूढ़ और मौलिक ग्रंथ उपलब्ध हैं । इसमें भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में वह सब तत्त्व-ज्ञान विद्यमान है जिसके आधार पर स्वास्थ्य-रक्षा, सुख-समृद्धि, बुद्धि-विकास इत्यादि के सभी साधन जुटाए जा सकते हैं । जो भी इस भाषा को जानता है उसे वह सारा ज्ञान भंडार खुले तौर पर उपलब्ध है जिसका सर्जन 90 पीढ़ियों से विद्या के क्षेत्र में शिरोमणि जातियों ने किया और जिसे उन्होंने सुरक्षित रखा है । निस्संदेह यह कहा जा सकता है कि इस भाषा में आज जो साहित्य उपलब्ध है वह संसार की सारी जातियों के समूचे साहित्य से श्रेष्ठ हैं ।[12]

अंग्रेजी में उपलब्ध साहित्य की साभिमान चर्चा करने के पश्चात् मकाले ने भारत में अंग्रेजी की सामयिक एवं भावी संभावनाओं की चर्चा की । उन्होंने लिखा कि भारत में अंग्रेजी शासक वर्ग की भाषा है । सरकारी संस्थानों में सेवारत भारतीय उच्च वर्ग की भाषा है । सारी पूर्वी दुनिया में अंग्रेजी व्यापार की भाषा बनने वाली है । दो बड़े यूरोपियन समाज जो दक्षिण अफ्रीका और आस्ट्रेलिया में उभर रहे हैं, और आए वर्ष भारत से महत्त्वपूर्ण संबंध जोड़ते जा रहे हैं उनकी भाषा भी अंग्रेजी है । चाहे हम अंग्रेजी साहित्य के वास्तविक महत्त्व को देखें या इस देश की स्थिति-विशेष का ध्यान करें, हम बलपूर्वक यह कह सकते हैं कि सारी विदेशी भाषाओं में केवल अंग्रेजी ही ऐसी भाषा है जो हमारे भारतीय शासित वर्ग के लिए लाभकारी होगी ।[13]

संस्कृत और अंग्रेजी की वर्तमान और भावी स्थिति का अपने ढंग से विश्लेषण करने के बाद मकाले जिस निष्कर्ष पर पहुंचे उसके आधार पर उन्होंने बैंटिंक को यह सिफारिश की कि अंग्रेजी को शिक्षा माध्यम बना दिया जाए और अंग्रेजी शिक्षा पद्धति लागू कर दी जाए । किंतु समिति इस विषय में आधी-आधी बंटी हुई थी । तीन सदस्य भारतीय पद्धति के पक्ष में थे और तीन

11. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', VI, पृ० 17, 15
12, 13. वही, पृ० 11

अंग्रेजी पद्धति के पक्ष में । स्थितिवश मकाले को अध्यक्ष होने के नाते अपने कास्टिंग वोट का प्रयोग करना पड़ा । कास्टिंग वोट के उपयोग के बावजूद भी अंग्रेजी का प्रश्न मकाले के लिए जीवन-मरण का प्रश्न बना रहा । जब सिफारिश आगे भेजी गई तो कृत संकल्प होकर उन्होंने बैंटिंक महोदय को साथ में यह लिख दिया कि यदि यह सिफारिश न मानी जा सके तो मुझे समिति की अध्यक्षता से निवृत्त कर दिया जाए ।[14] आखिरी दांव !

बैंटिंक ने मकाले के प्रस्ताव पर विचार किया । ग्रांट के समय से ही हम सारी कहानी तो जानते ही हैं । 7 मार्च, 1835 को उन्होंने सिफारिश मान ली । उसी दिन गवर्नर-जनरल की ओर से एक अध्यादेश जारी कर दिया गया :

1. भारत सरकार का महान् उद्देश्य यह है कि भारतीय जनता में यूरोपियन साहित्य और विज्ञान का प्रसार किया जाए । तदर्थ जो धन शिक्षा के लिए निश्चित किया गया है वह केवल अंग्रेजी शिक्षा पर ही खर्च किया जाएगा ।
2. कोई भी देशीय स्कूल या कालेज तब तक बंद नहीं किया जाएगा जब तक जनता उसमें रुचि लेती दीखेगी । समिति के तत्त्वावधान में जितनी ऐसी संस्थाएं हैं उनके अध्यापकों तथा विद्यार्थियों को जो छात्रवृत्ति/अनुदान मिल रहा है वह मिलता रहेगा । किंतु किसी नए आने वाले विद्यार्थी को ऐसी छात्रवृत्ति नहीं मिलेगी क्योंकि ऐसा करने से शिक्षा के उस निष्प्राण विभाग को कृत्रिम शक्ति मिलेगी जो अन्यथा नई उपयोगी शिक्षा के सामने स्वयं अपने बल पर जीवित नहीं रह सकेगा । साथ ही जब कोई अध्यापक अपना स्थान छोड़ेगा तो सरकार को उसकी क्लास के बारे में रिपोर्ट दी जाएगी, ताकि सरकार द्वारा उसके रिक्त स्थान को भरने या न भरने का निर्णय लिया जा सके ।
3. अभी तक भारतीय साहित्य को छापने पर बहुत रुपया खर्च किया गया है । भविष्य में कोई धन इस काम पर व्यय नहीं किया जाएगा ।
4. जो भी धन शिक्षा के लिए उपलब्ध है वह सब भारतीय जनता को अंग्रेजी भाषा के माध्यम से अंग्रेजी साहित्य और विज्ञान पढ़ाने पर खर्च किया जाएगा । समिति को यह आदेश दिया जाता है कि वह शीघ्र इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कार्यक्रम बनाकर प्रस्तुत करे ।[15]

1813 से बाईस वर्ष बाद यह निर्णय लिया गया । इसका प्रभाव कितना स्थायी और दूरवर्ती होगा इसका अनुमान उस समय कोई भी साधारण व्यक्ति नहीं लगा सकता था । हां, यह बात पक्की हो गई कि भारतीय भाषाओं के द्वार सरकारी शिक्षा क्षेत्र में बंद हो गए और अंग्रेजी भाषा और शिक्षा के द्वार खोल दिए गए । भारत का अंग्रेजीकरण कर दिया गया ।

14. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', VI, पृ० 17
15. शार्प, 'सलेक्शंज फ्रॉम एज्यूकेशनल रिकार्ड्स', पार्ट I, पृ० 130-31

गवर्नर के अध्यादेश से ऐसा लगता है कि शिक्षा-क्षेत्र में भारतीय भाषाओं तथा अंग्रेजी के बीच असीम संघर्ष का नया वातावरण उत्पन्न हो गया। अंग्रेजी राज की छत्रछाया में केवल अंग्रेजी शिक्षा तो फूले-फलेगी किंतु भारतीय भाषाओं को कोई सहारा नहीं दिया जाएगा। राजभाषा और नौकरशाही की नई नीति तैयार हो रही थी और उसकी ओर डायरेक्टर्ज़ ने पहले कई बार संकेत भी किया था। इन संकेतों से और नए अध्यादेश से यह स्पष्ट हो गया कि अंग्रेजी पढ़ने वाले तो सरकारी शिक्षा, अंग्रेजी भाषा और सरकारी नौकरी-शिक्षा-भाषा की छत्रछाया में सुख की सांस लेंगे और केवल संस्कृत पढ़ने वाले चोटी-जनेऊ के बोझ से दबे सांस लेने को भी तरसेंगे। अध्यादेश में कह दिया था कि उनको प्रोत्साहन देने वाले कृत्रिम साधन छात्रवृत्ति, अनुदानादि आगे से नहीं दिए जाएंगे अर्थात् उनके पास से ऑक्सीजन हटा कर उन्हें अपनी मौत मरने का अवसर प्रदान किया जाएगा। भारत की आधुनिक भाषाओं को तो जंगली कहकर दुत्कार ही दिया गया था। संस्कृत और अरबी के लिए चालू छात्रवृत्ति और अनुदान के रूप में कुछ दिन की मोहलत मिल गई थी। वह यथासमय समाप्त हो गई। भविष्य में संस्कृत-अरबी प्रकाशन पर व्यय भी रोक दिया गया। केवल एक नया मंत्र उपयोगी था—आंग्लछायामृतम्, आंग्लछायामृतम्!

मकाले का एकमात्र लक्ष्य था भारतीयता का उन्मूलन और पाश्चात्य सभ्यता का बीजारोपण, और यह सब किया गया राज की सेवा में।

11
राज की सेवा में

चलती का नाम गाड़ी। तर्क वह जो चले। शक्ति के सान्निध्य में उलटे पासे भी सीधे पड़ते दीखते हैं। स्वयं मकाले को अपने तर्क की कमजोरियां नहीं दीखीं। यदि हम उन कमजोरियों को देखें तो मकाले उन्नीसवीं शती के भोले कालिदास की तरह उसी शाखा को काटते दीखेंगे जिस पर वे बैठे थे। जादू यह रहा कि काटने पर भी शाखा कटी नहीं, साथ में राज की जड़ें और पक्की हो गईं।

उदाहरणार्थ, मकाले ने प्रस्तावित शिक्षा पद्धति में दो भाषाओं को पूर्णतया रद्द कर दिया, एक तो आधुनिक भारतीय भाषाएं और दूसरी प्राचीन भाषाएं अर्थात् संस्कृत और अरबी। आधुनिक भाषाओं को वे अविकसित और जंगली मानते थे और संस्कृत तथा अरबी को व्यर्थ और अनुपयोगी। इसके अतिरिक्त वह यह भी मानते थे कि संस्कृत में जो भी ज्योतिष और आयुर्वेद आदि विज्ञान है वह सब झूठा है। इसी कारण वे संस्कृत, प्राचीन विद्या और हिंदी आदि नई भाषाओं के विरोधी थे। अस्तु। देखना यह है कि अविकसित और जंगली भाषाओं के प्रति, प्राचीन भाषाओं के प्रति, और ज्योतिषादि विद्याओं के प्रति उनका दृष्टिकोण क्या था। क्या यह वही था जो उनके शिक्षा-प्रस्ताव में इतने कठोर शब्दों में रखा गया था अथवा भारतेतर संदर्भ में, विशेषकर इंग्लैंड के संबंध में, इससे भिन्न था। यदि भिन्न था तो मानना पड़ेगा कि शिक्षा-प्रस्ताव में उनका दृष्टिकोण शिक्षा समिति के अध्यक्ष या शिक्षाशास्त्री का-सा न होकर एक प्रतिवादी राजनेता का था जो अपने पक्ष को कोई भी दलील देकर सिद्ध करना चाहते थे।

एक बार संसद में ब्रिटिश शिक्षा पद्धति पर बोलते हुए मकाले ने प्राचीन भाषा, फलित ज्योतिष, कीमियाई विज्ञान और अविकसित भाषाओं की चर्चा की। उन्होंने यह तो माना कि इंग्लैंड की शिक्षा पद्धति के अनुसार नौजवानों को अपनी शिक्षा के दौरान मृत भाषाओं (अर्थात् ग्रीक और लैटिन) की ओर अत्यधिक ध्यान देना पड़ता है। उनका यह भी विचार था कि अंग्रेज नौजवानों की प्रशासन सेवा के लिए चुने जाने में सब से बड़ी योग्यता और आवश्यकता है विदेशी भाषाओं का ज्ञान। फिर भी उन्होंने यह कहा कि यह सब होते हुए भी क्लासिकल भाषाओं में निपुणता से अधिक इन नौजवानों की योग्यता की और कोई परीक्षा नहीं हो सकती। इस प्रकार मकाले ने प्रशासन सेवा के संबंध में प्राचीन भाषाओं की शिक्षा और योग्यता का पूर्णतया समर्थन किया। मकाले क्लासिकल भाषाओं के समर्थक थे। स्वयं विद्वान भी थे।

मकाले यहीं नहीं रुके, वे आगे बढ़े। उन्होंने कहा कि किसी भी देश में, किसी भी समय,

कोई भी भाषाएं पढ़ाई जा रही हों, जो नौजवान उन्हीं भाषाओं में ऊंची योग्यता प्राप्त करेंगे वे अवश्यमेव उस देश और उस समय के युवक समाज के शिरोमणि होंगे । वे परम बुद्धिमान, परिश्रमी, महत्त्वाकांक्षी होते हुए परम आदरणीय स्थान के अधिकारी होंगे । यदि कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में न्यूटोनियन (आधुनिक) साइंस के स्थान पर टोलमाइक (मध्यकालीन) साइंस पढ़ाई जाए तो भी वहां का स्नातक असाधारण प्रतिभा का धनी होगा । यदि वह ग्रीक भाषा सीखने की बजाय चरोकी पढ़ेगा, उसमें उत्तम कविता लिखेगा और उसके व्याकरण को जानेगा तो वह उन सबसे अच्छा होगा जो चरोकी नहीं जानते । मकाले ने फलित ज्योतिष की चर्चा करते हुए कहा कि हमारी (ब्रिटिश) यूनिवर्सिटियों में फलित ज्योतिष भी पढ़ाई जाए तो जो नौजवान उत्तम जन्म-कुंडली बनाएगा वही सबसे अच्छा होगा । और यदि कीमियाई विज्ञान भी पढ़ाया जाए तो भी जो नौजवान पारसमणि बनाने में सबसे अधिक परिश्रम करेगा वही उत्तम होगा ।[1]

विचारणीय विषय यह है कि संस्कृत भाषा में उपलब्ध विज्ञान ग्रंथ, जो 1814 में 'एक्सलेंट ट्रिटीज़' कह दिए गए, और 1824 में वाहियात कह दिए गए, वे तो 1824 वाले ही स्वर में मकाले के शब्दों में बकवास बने रहे । किंतु वैसे ही विषय अर्थात् फलित ज्योतिष, कीमियागरी, मध्यकालीन गणित ज्योतिष, ग्रीक और लैटिन जिनको स्वयं मकाले मृतभाषा कहते थे, वे सब ब्रिटिश पद्धति के पाठ्य विषय के रूप में स्नातकों की उच्चतम योग्यता के मापदंड बन गए । और चरोकी भाषा तो 1825 में ही लिपिबद्ध की गई थी, 1835 से केवल दस वर्ष पहले, और थी भी एक अमरीकन कबीले की भाषा । फिर, भारत में ब्रिटिश शिक्षा पद्धति के अनुसार पढ़ाए जाने से प्रशासन-सेवा के लिए तैयार किए जाने वाले नौजवानों की शिक्षा का विषय भारतीय भाषाएं क्यों नहीं ? संस्कृत और अरबी भी तो क्लासिकल भाषाएं थीं, ग्रीक और लैटिन की तरह । और हिंदी इत्यादि चरोकी से गई-गुजरी तो नहीं थीं ?

मकाले के शब्दों पर विचार करने से इस प्रश्न का उत्तर मिल जाएगा । उनके मतानुसार पाठ्यक्रम की अपेक्षा शिक्षण पद्धति वास्तव में महत्त्वपूर्ण थी । यदि एक विद्यार्थी प्राचीन भाषा या इतिहास में अनुसंधान करे और दूसरा किसी आधुनिक भाषा या इतिहास में करे, तो योग्यता और मानसिक विकास की दृष्टि से उचित ट्रेनिंग के कारण दोनों की क्षमता का मूल्य बराबर होगा, हां यदि उनके काम का स्तर बराबर हो तो । मकाले के मत में शिक्षा का ध्येय था बौद्धिक विकास, चरित्र-निर्माण और जीवन की समस्याओं से जूझने की क्षमता । विषयाध्ययन का ध्येय यह नहीं है कि विद्यार्थी को उससे संबद्ध कुछ आंकड़ों की जानकारी दी जाए, वास्तविक लक्ष्य यह है कि उस विषय के अध्ययन की शैली ऐसी हो कि उसके माध्यम से उस विद्यार्थी की बौद्धिक और चारित्रिक शक्तियों का उद्‌बोधन किया जाए और उन्हें परिपक्व करके विद्यार्थी को जीवन क्षेत्र में प्रौढ़ स्तर तक पहुंचाया जाए और उसे स्वतंत्र रूप से आगे बढ़ने की क्षमता प्रदान की जाए । इंग्लैंड में मकाले अपनी पद्धति के समर्थक थे, इसी कारण उस पद्धति के अंतर्गत किसी भी

1. मकाले,वर्क्स, XI, पृ० 572-73

विषय के समर्थक थे । दूसरे शब्दों में उनके लिए शैली मुख्य थी, विषय गौण । यदि भारत में वे अंग्रेजी पद्धति को लागू करवाना चाहते थे तो फिर यहां भी उन्हीं विषयों का समर्थन क्यों नहीं किया ? यहां भी तो ब्रिटिश पद्धति के अनुसार शैली मुख्य हो सकती थी ।

इस प्रश्न का उत्तर एक ही बनता है—वास्तव में भारत में ब्रिटिश पद्धति को लाना ही नहीं था । यहां तो अंग्रेजी के वेश में एक विशेष भारतीय पद्धति को लागू करना था, और संस्कृत, अरबी या नई भाषाएं उस पद्धति के अनुकूल थीं नहीं । इसीलिए मकाले ने अपने प्रस्ताव में उन विषयों में से एक का भी समर्थन नहीं किया और उन्हें अपनी नींद सुला दिया । ब्रिटिश पद्धति वास्तव में क्यों नहीं लागू की गई ? यह नई भारतीय पद्धति क्या थी ? उसका उद्देश्य क्या था ?

इस संदर्भ में हमें याद रखना चाहिए कि मकाले के मत के अनुसार शिक्षा पद्धति न तो स्वयंसिद्ध थी न स्वतः साध्य, वह तो केवल साधन थी । अतः शिक्षा का उद्देश्य और उस उद्देश्य के अनुरूप भावी लक्ष्य उनके लिए महत्त्वपूर्ण एवं विचारणीय विषय थे । हम पहले ही देख चुके हैं कि प्रारंभ से ही भारत में अंग्रेजी शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य रहा था इंग्लैंड के राजनीतिक और व्यापार संबंधी हितों की रक्षा करना, उनकी सिद्धि के लिए राज की जड़ें पक्की करना और यहां की सभ्यता का परिवर्तन करके इंग्लैंड के माल की खपत के लिए क्षेत्र तैयार करना । मकाले ने अपने शिक्षा-प्रस्ताव के माध्यम से इसी विचारधारा को कार्यान्वित करने का प्रयास किया ।

इंग्लैंड और भारत में शिक्षा के उद्देश्य भिन्न थे । पंद्रहवीं शती से लेकर उन्नीसवीं शती तक अर्थात् मकाले के अपने समय तक इंग्लैंड में शिक्षा का उद्देश्य था प्रशासन कला का प्रशिक्षण और प्रशासक का चरित्र-निर्माण । रिनेसां के समय इंग्लैंड और सारे यूरोप में एक बड़ी भारी सांस्कृतिक क्रांति हुई थी जिसके फलस्वरूप मनुष्य का मध्यकालीन और बाइबल प्रतिपादित रूप पतित और अधम से ईशपुत्र के रूप में बदल गया था । ऐसा लगता था कि मनुष्य ने अपने आदि रूप को फिर से जागृत कर लिया, और जीवन को एक अभिशाप से वरदान में बदल लिया । शेक्सपियर ने अपने नाटकों में मनुष्य के इस रूप को चित्रित किया है । हां, यदि मनुष्य स्वयं गिरना चाहे तो पशु से बदतर शैतान के स्तर तक भी गिर सकता है । इसीलिए शिक्षा का नया उद्देश्य बन गया मानव के अपने ईशपुत्र रूप की पुनः प्राप्ति । किंतु सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के कारण जनसाधारण को शिक्षा उपलब्ध थी नहीं । शिक्षा केवल उच्च वर्ग को ही उपलब्ध थी और वह वर्ग शासक वर्ग ही था । इसलिए अंततोगत्वा शिक्षा का उद्देश्य मानव स्वरूप की प्राप्ति के साथ-साथ शासक का चरित्र-निर्माण भी रहा । इसी को 'लिबरल एज्यूकेशन' का नाम दिया गया । शिक्षाशास्त्रियों का कहना है कि रिनेसां के समय जब मनुष्य की अपने आदि स्वरूप में पुनः व्यवस्थिति मान ली गई तब शिक्षा का उद्देश्य हो गया पूर्ण मानव की शिक्षा । किंतु आने वाली शताब्दियों में शनैः-शनैः वही उद्देश्य बदलता गया और शासक वर्ग की शासन कला की निपुणता के रूप में विकसित होता चला गया ।[2] इंग्लैंड के प्रशासक

2. देखिए : एडवर्ड शॉर्ट, 'एज्यूकेशन इन ए चेंजिंग वर्ल्ड' (लंदन, 1971), पृ० 6-7

उसी पद्धति से होकर निकले थे । स्वयं मकाले भी उसी प्रशिक्षण-प्रक्रिया से गुजरे थे । भारत के अंग्रेज प्रशासक उसी शिक्षा पद्धति से शिक्षा प्राप्त करके भारत आए थे और उन्हीं के सहायक के रूप में भारतीय नौजवानों की जरूरत थी, सस्ते दामों पर ।

किंतु भारत में शिक्षा का उद्देश्य प्रशासक को तैयार करना नहीं था । प्रशासक तो इंग्लैंड से तैयार होकर ही आते थे । यहां तो प्रशासकों के लिए सस्ते सहायकों की आवश्यकता थी । 1827 से 1830 तक डायरेक्टर्ज़ की ओर से बार-बार यह कहा जाता रहा कि भारतीयों को शिक्षा के माध्यम से सरकारी नौकरियों के लिए तैयार किया जाए । किंतु यह कभी नहीं कहा गया कि उनको ऊंची नौकरियां दी जाएंगी । 1833 के आस-पास यह कहा जा रहा था कि वह समय कभी नहीं आएगा जबकि भारतीयों को प्रशासन या फौज में ऊंचे पद दिए जाएंगे । मकाले स्वयं इस विषय पर जल्दी में कुछ कहना नहीं चाहते थे । वे कहते थे कि यह मामला बहुत नाजुक है । किंतु वे यह अवश्य मानते थे कि भारत के अपने हित में यह होगा कि ऊंचे पदों पर भारतीयों की नियुक्ति के बारे में फूंक-फूंक कर कदम उठाए जाएं, जल्दबाजी में नहीं । हां, यदि ऐसा समय कभी आ जाए कि भारत के अपने हित इस नीति में परिवर्तन की अपेक्षा करें और ब्रिटेन अपनी शक्ति के खोए जाने के भय से यह परिवर्तन करने से इंकार करे तो मकाले इस प्रकार की तुच्छ नीति से सहमत नहीं होंगे, वे इससे घृणा करते थे ।[3]

किंतु प्रश्न तो यह है कि ऐसा समय कभी आना भी था या नहीं और इस बात का निर्णय करने वाला कौन था कि वह समय आ गया है या नहीं ? इसका निर्णय तो स्वयं ब्रिटिश सरकार को ही करना था । यह सभी को विदित है कि कांग्रेस की स्थापना के पश्चात् जब ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध आंदोलन प्रारंभ हुआ तो सरकार का कहना यही था कि चंद असंतुष्ट शिक्षा-प्राप्त लोग ऊंची नौकरियां प्राप्त करने के लिए या सरकार की ताकत में भागीदार बनने के लिए यह आंदोलन चला रहे हैं । मकाले के समय से करीब 100 वर्ष बाद तक सरकार को यह विश्वास नहीं हो पाया कि भारत में ऐसे शिक्षित लोग तैयार हो गए हैं जो ऊंचे पदों के प्रति न्याय कर सकते हैं । जब साइमन कमिशन भारत आया था तो उनको भी इस विषय पर ब्रिटिश सरकार को रिपोर्ट करना था ।[4] मोटी बात यह है कि यदि मकाले और उनके समकालीन शासक वर्ग से या सरकार से पूछा जाता कि भारतीयों को कभी ऊंचे पद मिल सकेंगे या नहीं तो वे 'हां' की जगह कहते 'नहीं' । हां तो उन्होंने कहा भी नहीं ।

मकाले के विचारों में भारतीयों की ऊंचे पदों पर नियुक्ति का प्रश्न एक और प्रश्न से जुड़ा हुआ था । वह प्रश्न यह था कि क्या कभी भारतीयों को देश के शासन-प्रशासन में प्रतिनिधित्व दिया जा सकेगा या नहीं ? मकाले इस प्रश्न पर 'हां' की अपेक्षा 'नहीं' के समर्थक थे । वे कहते थे कि भारतीय लोग एक ऐसी जाति के लोग हैं जिन्हें सशक्त लोगों के पैरों के नीचे कुचले जाने की आदत पड़ गई है और वे मानवीय व्यवहार को कमजोरी का प्रतीक मानते

3. मकाले, वर्क्स, XI, पृ० 571-83
4. 'इंडियन स्टेच्युटरी कमिशन रिपोर्ट' (लंदन, 1930), I, 378

हैं । यह विचारधारा करीब-करीब सभी अंग्रेज शासकों के दिमाग में बैठ गई थी । भारत शासन ऐक्ट पर बोलते हुए 1833 में उन्होंने कहा था कि हमें अत्यंत कठिन काम भारत में करना है । हमें एक गंदी चीज से अच्छी चीज पैदा करनी है, हमें भारतीयों को अच्छा शासन देना है और वे ऐसे लोग हैं जिनको स्वतंत्र शासन नहीं दिया जा सकता । मकाले के विचार के अनुसार यूरोप में तो ऐसी जातियां बसती थीं जिनमें से किसी भी जाति के जनसाधारण को शासन में भागीदार बनाया जा सकता था किंतु भरत में नहीं । मकाले मिल का हवाला देते हैं और कहते हैं कि स्वयं मिल जो शासन के अंदर जनता के प्रतिनिधित्व के पक्के समर्थक थे, वे भी कहते थे कि भारत में जनता के प्रतिनिधित्व का प्रश्न ही नहीं उठता । इसलिए मकाले के मतानुसार भारत में एक ही प्रकार का शासन संभव था, वह था ब्रिटिश साम्राज्य और उस साम्राज्य की छत्रछाया में भारत के लोगों को उतने ही सुख और शांति से रहने का वरदान देना जितना उचित या संभव हो । मकाले प्रबल आशा करते थे कि भारत सदा ब्रिटिश साम्राज्य का अंग बनकर रहेगा । वह इंग्लैंड के शत्रुओं से युद्ध करेगा और इंग्लैंड के मित्रों से शांति संबंध जोड़ेगा । भारत की रक्षा ब्रिटिश नेवी के द्वारा की जाएगी और अंग्रेजी सेना, जिसमें कुछ भारतीय सिपाही भी होंगे, भारत में स्थित रहेगी ।[5] यदि भारतीय सेना में भारतीय लोग मात्र सिपाही का स्थान पा सकने के योग्य थे तो प्रशासन में उन्हें अफसरी या अधिकार कहां से मिलते ?

जैसे मकाले के विचारों के अनुसार ऊंचे पदों पर भारतीयों की नियुक्ति या शासन में उनका भागीदार होना नाजुक प्रश्न थे उसी तरह भारत कभी राज में प्रतिनिधित्व इत्यादि की मांग करेगा या नहीं अथवा स्वतंत्रता या स्वतंत्र निर्णयाधिकार की मांग कर सकेगा या नहीं, यह प्रश्न भी उनके लिए गंभीर था । उनके अनुसार भारत की किस्मत का अंतिम फैसला तो भविष्य के अंधकार में निहित था । समाज और सृष्टि के वे नियम जिनके अनुसार इसका उत्थान या पतन हुआ या होना था वे नियम भी किसी को मालूम नहीं थे । हो सकता है कि अंग्रेजी शिक्षा के कारण भारत इतनी बौद्धिक और चारित्रिक उन्नति कर ले कि वर्तमान ब्रिटिश ढांचे से निकलने की मांग करे और अपने आप को स्वायत्त शासन के योग्य समझकर यूरोपियन प्रकार का शासन मांगने लगे । यदि ऐसा दिन आने भी लगा तो मकाले उसे रोकने या टालने के पक्ष में नहीं थे । ऐसा दिन ब्रिटिश इतिहास में सबसे अधिक गौरव का दिन होगा ।[6] उस दिन को कौन टाल सकता था ? नियति तो नियति है । किंतु फिर भी आशा बलवती बनी रही ।

इस प्रकार मकाले के सामने दुपहली समस्या खड़ी हो गई जिसका हल वे शिक्षा के माध्यम से निकालना चाहते थे । एक तो यह कि भारत शताब्दियों तक, वास्तव में सदा के लिए, ब्रिटिश साम्राज्य का अंग बना रहेगा । इसलिए किस प्रकार उसे अपने अधिकार में रखा जाए ? दूसरी यह कि यदि कभी भारतीयों को शासन में भागीदार बनाना पड़ा तो कौन-से भारतीयों को किस प्रकार शासन में भागीदार बनाया जाए ? अंत में यदि भारत को स्वतंत्रता

5. मकाले, वर्क्स, XI, पृ० 555-56
6. वही, पृ० 586

प्रदान करनी ही पड़े तो कौन वे लोग होंगे जो इस देश की बागडोर को संभालेंगे और किस वैधानिक ढांचे में ताकि इंग्लैंड की जड़ें भारत में फिर भी पक्की बनी रहें और संबंध टूटें नहीं। किस प्रकार भारत से इंग्लैंड को राजनीतिक और व्यापारी शक्ति मिलती रहे, साम्राज्य के अंदर और बाहर दोनों अवस्थाओं में ? इस उद्देश्य की पूर्ति का माध्यम उन्होंने शिक्षा को बनाया और इसी उद्देश्य को सामने रखकर उन्होंने शिक्षा की रूपरेखा बनाई।

ब्रिटिश शिक्षाशास्त्रियों अर्थात् मकाले और बाद में कर्ज़न आदि के सामने एक और प्रतिमान भी रहा। शिक्षा की रूपरेखा भारत के लोगों के चरित्र को देखकर भी बनाई जाए, ऐसी उनकी मान्यता थी। वे भारतीय लोगों को बहुत ही कमजोर और कायर मानते थे। उनके मुकाबले में वे अंग्रेज जाति को शारीरिक, बौद्धिक और नैतिक दृष्टि से बहुत ऊंची मानते थे। इस मान्यता का सबसे बड़ा प्रमाण उनके लिए यह था कि मुट्ठी-भर अंग्रेज समुद्र पार करके करोड़ों के जनसमूह पर राज्य करने में सफल हो रहे थे। यदि अंग्रेज जाति भारतीयों से बेजोड़ तरीके से चरित्र में ऊंची न होती तो यह कैसे संभव हो सकता था ?[7] उनकी बुद्धि यही आश्चर्यमय प्रश्न उठाती रही, उत्तर इतिहास से मिलता रहा।

इन कारणों से भारत में लागू होने वाली शिक्षा पद्धति अंग्रेजी पद्धति होते हुए भी इंग्लैंड में चल रही ब्रिटिश पद्धति जैसी नहीं हो सकती थी। यहां की पद्धति का जैसे साम्राज्यवादी उद्देश्य था वैसे ही उसका लक्ष्य भी भिन्न था। ब्रिटिश पद्धति का लक्ष्य था शासक वर्ग का निर्माण, भारत में अंग्रेजी पद्धति का लक्ष्य था शासित वर्ग का निर्माण।

भारतीय शासित वर्ग से सबसे पहली अपेक्षा थी कर्मचारियों की जो मामूली वेतन के बदले कलम घिसातें रहें और अफसरों की डांट-डपट खाते हुए सरकारी काम करते रहें। इनके जीवन का चित्रण बहुत समय पश्चात् राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत-भारती' में किया। इस वर्ग का काम था सरकार की मदद करना, पैसे बचाने में। 1827 में डायरेक्टर्ज़ ने लिखा था कि भारतीयों को नौकरी में लिए बिना भारत का प्रशासन चलाना असंभव होगा। हेस्टिंग्ज़ के समय कलकत्ता मदरसा और संस्कृत कालेज में जो 'मोहम्मदन जेंटलमैन' परिवारों के युवक या पंडित वर्ग के युवक शिक्षा प्राप्त करने वाले थे उनसे अपेक्षा की जाती थी कि वे या तो अदालतों में अफसरों के ऐसे उच्च स्थान प्राप्त करेंगे जहां उनको ऊंची तनख्वाह मिलेगी या वे हिंदू विधि-शास्त्र के पंडित बनकर अंग्रेज न्यायाधीशों की सहायता करेंगे। 1827 में जो पत्र लिखा गया था उसकी भाषा दूसरी शैली की थी। उसमें लिखा था कि अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से जिन नौजवानों को शिक्षा मिलेगी उनका नैतिक जीवन ऊंचा होगा और उनमें से ऐसे नौकर सरकार को मिल पाएंगे जिनके ऊपर विश्वास करके उनको सरकारी काम दिए जा सकेंगे। इन लोगों को अंग्रेजी भाषा की कामचलाऊ योग्यता पर्याप्त थी। अंग्रेजी भाषा का दफ्तरी ज्ञान और कंपनी सरकार का विश्वासपात्र होना, शिक्षित वर्ग के लिए आदर्श उपलब्धि मानी गई।

इन मामूली नौकरियों से ऊपर जाने की योग्यता प्रथम तो भारतीयों में थी ही नहीं, मकाले

7. मकाले, वर्क्स, XI, पृ० 565

ऐसा मानते थे। जब वे ऐसा कहते तो जातिवाद के सुर में बहकने लगते। वे कहते थे कि अंग्रेज तो उच्चतर जाति से संबंध रखते हैं, इसी कारण वे उच्चतर ज्ञान और चरित्र के धनी हैं। भारतीय एक तुच्छ जाति से संबंध रखते हैं और मकाले यहां तक कह गए कि अंग्रेज शासक यदि कोई गलती भी कर बैठे हैं, जो उन्हें शोभा नहीं देती, तो केवल इस कारण कर बैठे हैं कि घटिया लोगों के संपर्क में आने के कारण ऐसा सीख गए।[8]

फिर भी भारतीय जनता को साथ रखने के लिए कुछ ऐसे भारतीयों की आवश्यकता तो थी ही जो सरकार का काम करें और जनता के मन में सरकार के प्रति सद्भावना पैदा करके उनको कृतज्ञता भाव से सरकार के निकट ले आएं और वहीं स्थित-व्यवस्थित रखें। इन्हीं लोगों को एक और काम भी करना था। अंग्रेजी पढ़कर अंग्रेजी की शब्दावली की सहायता से भारतीय भाषाओं को समृद्ध बनाना था ताकि उनके माध्यम से वे आधुनिक शिक्षा जनसाधारण तक पहुंचा सकें।[9] ये ही लोग जनता तक नई सभ्यता का संदेश पहुंचाने वाले थे।

इस उच्चवर्ग की शिक्षा ब्रिटिश परंपरा के अनुसार प्रशासक वर्ग की-सी हो सकती थी, या नहीं ? मकाले के विचारों के अनुसार, नहीं हो सकती थी। ब्रिटिश अफसर चाहे इंग्लैंड में हो चाहे भारत में, उसकी उच्चस्तरीय शिक्षा एवं उच्चतर बुद्धि और चरित्र के कारण उससे अपेक्षा यही की जाती थी कि वह स्वतंत्र निर्णय लेगा, जैसा स्वतंत्र समाज में उचित है वैसा। किंतु भारतीय शिक्षा-प्राप्त लब्धप्रतिष्ठ नौजवान स्वतंत्र निर्णय लेने के लिए नहीं था, वह केवल सरकार का संदेशवाहक था अर्थात् जो कुछ वह पढ़ ले या जो उसे सुना दिया जाए उसी को आगे पहुंचा दे। मकाले केवल इतनी ही अपेक्षा करते थे, अधिक नहीं। क्यों ?

भारत और इंग्लैंड के बीच मकाले को सब से बड़ा जो अंतर दीखता था वह था सांस्कृतिक अंतर। इंग्लैंड या अंग्रेज जाति पर गर्व होने का जो कारण था वह भी सांस्कृतिक ही था। उनको अपनी ग्रीक-रोमन, सैक्सन-ईसाई और अंग्रेजी परंपरा पर बड़ा भारी गर्व था। जब भी उन्हें भारत का खयाल आता और वहां पर अंग्रेजी राज का ध्यान करके अपनी जाति पर गर्व होता तो तत्काल उसी सांस्कृतिक अंतर का ध्यान करते और कहते कि यह इस संस्कृति की ही देन है कि मुट्ठी-भर अंग्रेज इतने बड़े देश पर राज कर रहे हैं। किंतु शासक एवं धार्मिक परंपरा के अनुयायी होने के नाते उनको यह बात खलती ही रहती कि भारत के लोगों की जाति, रंग, सभ्यता, आचरण, धर्म सबके सब हम से भिन्न हैं।[10] प्रारंभ से ही अंग्रेज सरकार को यह बात भी खल रही थी कि यदि भारत में कोई परेशानी या भय सरकार को हुआ तो इसी धार्मिक और सांस्कृतिक अंतर के कारण होगा। यदि उस भय को मिटाना है तो शिक्षा का पहला लक्ष्य होना चाहिए भारत पर सांस्कृतिक विजय। इस विजय से भारत के उद्धार और इंग्लैंड की शाश्वत विजय इन दोनों मंजिलों तक पहुंचने की आशा उनको थी। इसलिए उन्होंने बलपूर्वक कहा कि शिक्षा के माध्यम

8. मकाले, वर्क्स, XI, पृ० 565, 569
9. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', VI, पृ० 16
10. मकाले, वर्क्स, XI, पृ० 559

से हमें भारत में ऐसे वर्ग का निर्माण करना है जो हमारे और करोड़ों शासित जनता के बीच की कड़ी बनकर संचार और संगठन का माध्यम बन सके। ये लोग रक्त और रंग में भारतीय होंगे किंतु आचार-विचार, वाणी और व्यवहार में अंग्रेज।[11] इस प्रकार अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त वर्ग की संस्कृति और सभ्यता के परिवर्तन का पूरा प्रोग्राम राज की शाश्वत सेवा करने के लिए मकाले महोदय ने बनाया।

मकाले का विचार था कि अंग्रेजी भाषा और साहित्य भारत की सोई सड़ी सभ्यता के लिए वह काम करेंगे जो ग्रीक और लैटिन भाषा और साहित्य ने सोलहवीं शती में इंग्लैंड के लिए किया था। इंग्लैंड में क्लासिकल साहित्य की प्रेरणा से एस्कम और मौर इत्यादि विद्वानों का उद्भव हुआ था। उसी प्रकार अंग्रेजी भाषा और साहित्य-ज्ञान भारत में क्लासिकल साहित्य और संस्कृति का रोल अदा करके यहां जागृति पैदा करेगा और एक नई सभ्यता और संस्कृति को जन्म देगा।[12] मकाले का विचार था कि अंग्रेजियत के रंग में रंगा यह भारत सदा के लिए इंग्लैंड के साथ शासन-सूत्र में बंधा रहेगा। ग्रांट ने इसी बात को दूसरे शब्दों में कहा था, "शिक्षा के माध्यम से भारत के लोगों का धर्म-परिवर्तन हो जाएगा। वे ईसाई बन जाएंगे और एक प्रकार से इंग्लैंड के साथ एक नए धार्मिक परिवार के सदस्य बनकर जुड़े रहेंगे।" मकाले ने धर्म या धर्म-परिवर्तन की चर्चा तो खुलकर नहीं की किंतु भारतीय धर्म को झूठा कहकर उस परिवर्तन की ओर संकेत अवश्य कर दिया। शेष बात वे मन में रख गए और एक वर्ष के बाद अपने पिता को पत्र में लिखकर कह दी। मकाले संस्कृति-परिवर्तन को धर्म-परिवर्तन का प्रबल साधन मानते थे और वास्तव में तो संस्कृति-सभ्यता-परिवर्तन को धर्म-परिवर्तन का पर्याय ही मानते थे। इस वैचारिक और सांस्कृतिक धर्म-परिवर्तन के लिए उन्होंने तीस वर्ष का समय रखा था।

साम्राज्यवाद के हाथ और हथियार दोनों लंबे होते हैं। पहले हथियार की लड़ाई से साम्राज्य-विस्तार होता था। यूनानियों, रोमनों और अंग्रेजों के साम्राज्य-युद्ध सेना की सहायता से लड़े गए थे। मकाले ने सेना विजय के पश्चात् उसी के स्थान पर विचार-युद्ध तथा मानसिक विजय का सुझाव दिया। आज का साम्राज्य-युद्ध वित्त और विचार दोनों के माध्यम से लड़ा जाता है। मकाले ने खुले शब्दों में इस नए युद्ध का सुझाव दिया था। हम देख चुके हैं कि प्रारंभ से ही ब्रिटेन को दो प्रकार की चिंता थी, एक भारत-विजय अर्थात् साम्राज्य-विस्तार और दूसरी साम्राज्य-सुरक्षा। उसी मानसिक विजय की ओर मकाले ने ध्यान आकृष्ट किया। उन्होंने लिखा कि एक विजय ऐसी है जिसकी पराजय कभी नहीं होती, एक साम्राज्य ऐसा भी है जो अवनति के सभी प्राकृतिक या सामाजिक कारणों से मुक्त है। मानो 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि'—ऐसा बोले। यह विजय थी बर्बर बाहुबल के ऊपर शांत-क्रांत बुद्धि-शक्ति की विजय, मानसिक विजय जो वैचारिक क्रांति पैदा करती है और जिसका ह्रास कभी नहीं होता। मकाले को इस नई भारत-विजय का रूप दिखाई देता था। उन्होंने कहा कि हमारी कला, साहित्य, आचार-संहिता और विधि-विधान का

11. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', VI, 16
12. वही, पृ० 12

नया साम्राज्य भारत में अक्षुण्ण और एकछत्र राज बनके सदा कायम रहेगा।[13]

मकाले महोदय का दृढ़ विश्वास था कि यदि कभी अंग्रेजों को भारत छोड़ना पड़ा तो अंग्रेजी सभ्यता के रंग में रंगे पाश्चात्य संस्कृति के पुजारी, अंग्रेजी माध्यम से सोचने, बोलने वाले ये सांवले साहिब उस साम्राज्य की रक्षा करते रहेंगे। ये लोग शारीरिक, मानसिक, आर्थिक और सामाजिक रूप से ब्रिटिश साम्राज्य के अंग बनकर रहेंगे और कभी भी भारत को ब्रिटेन से अलग नहीं होने देंगे—ऐसी पक्की आशा मकाले करते थे। सांस्कृतिक सूत्रों में बंधा यही भारत ब्रिटेन के माल की खपत के लिए एक विशाल और स्थायी मार्किट के रूप में भी बना रहेगा। ये नए क्षत्रिय और संकर ब्राह्मण मकाले महोदय को भारत में नजर आ रहे थे जो नए कालेजों में शिक्षा प्राप्त करने के बाद बीफ-हैंबरगर और बीयर के मग हाथ में लेकर नई आजादी की तरफ कदम बढ़ा रहे थे। ये ही नए साम्राज्य के नए उत्तराधिकारी के रूप में साम्राज्य की भावी आशाओं के प्रतीक भी थे और मकाले के अनुसार इन्हीं लोगों को भारत के शासन की बागडोर सौंपी जानी थी—यदि नियति का यही विधान था तो!

यहां पर मकाले के प्रस्ताव के बीस वर्ष बाद की चर्चा करना उचित लगता है। चार्ल्स ट्रेवेल्यन मकाले के ब्रदर-इन-ला थे। उन्होंने 1838 में 'एज्यूकेशन आव् दि पीपल् आव् इंडिया' नाम की एक पुस्तक भी लिखी थी और एक प्रयास यह भी किया था कि सारी भारतीय भाषाओं की लिपि एक बन जाए। 1853 में कंपनी चार्टर के नवीनीकरण के समय भारत के शिक्षा संबंधी विषयों पर फिर से विचार किया गया था और ट्रेवेल्यन ने भी समिति के सामने अपने विचार व्यक्त किए थे। इसी विचार-विमर्श के पश्चात् 1854 में चार्ल्स वुड के द्वारा वह वृहत् कार्यक्रम लेख भेजा गया था जिसे 'वुड्ज डिस्पैच' और 'मैग्ना कार्टा आफ इंडियन एज्यूकेशन' का नाम दिया जाता है। चार्ल्स ट्रेवेल्यन इस विचार के थे कि अंग्रेजी राज को यदि कोई खतरा कभी होगा तो अनपढ़ भारतीयों से होगा, शिक्षित भारतीयों से नहीं। यह बात उन्होंने 1857 से ठीक चार वर्ष पूर्व 1853 में कही थी जो किसी भविष्यवाणी से कम नहीं थी। अतः ट्रेवेल्यन ने यह सुझाव दिया कि भारत में अंग्रेजी भाषा और साहित्य उसी प्रकार पढ़ाया जाए जिस प्रकर किसी समय में ब्रिटेन में रोमन भाषा और साहित्य पढ़ाए गए थे। पहली शती (ई०पू०) से 440 ई० तक ब्रिटेन में रोमनों का राज था। रोमन भाषा और साहित्य पढ़कर ब्रिटेन के लोग रोमन सभ्यता और संस्कृति के रंग में रंगे गए और उनको रोमन आचार-विचार और दिनचर्या का चस्का पड़ गया। किंतु 410 में रोमन अपने देश वापस चले गए क्योंकि वे जर्मन आक्रमणों से अपने देश की रक्षा करना चाहते थे। जब वे जाने लगे तो ब्रिटेन के लोगों ने उनको रोकने का भरसक प्रयत्न किया और कहा कि आप न जाइए क्योंकि आपके बिना अकेले हमसे काम चलने वाला नहीं है। बाद में रोमन वापस भी आए किंतु वह दूसरी कहानी है। ट्रेवेल्यन ने ब्रिटिश इतिहास का हवाला देकर यह कहा कि जैसे रोमन भाषा-साहित्य पढ़े-लिखे ब्रिटिश वर्ग को रोमन लोगों की आवश्यकता रही और जैसे ब्रिटेन के शिक्षित वर्ग ने रोमनों को रोकने का प्रयास किया था

13. मकाले, वर्क्स, XI, पृ० 586

वैसे ही यदि किसी समय हम वहां से चलने भी लगे तो भारत का शिक्षित वर्ग हमें भी रोकने का प्रयास करेगा । और यदि हम चले भी आए तो भी भारत के लोग मानसिक और वैचारिक रूप से अपने आर्थिक और सामाजिक विकास के लिए हम पर सदा निर्भर करते रहेंगे । उस समय शासक रूप में तो हमें कोई लाभ नहीं हो सकेगा किंतु मित्र रूप में तो होगा ही ।[14] इसी भावी मैत्री के आंचल में मकाले ने सांवले साहबों के सौजन्य से मानसिक और सांस्कृतिक ब्रिटिश साम्राज्य की शाश्वत स्थापना की कल्पना की थी ।

यहां पर एक और बात याद आ रही है, ट्रेवेल्यन के कारण । झूठ-सच का निर्णय तो हो नहीं सकता किंतु बात रोचक है । लैरी कालिंज़ और डामिनिकी लापीरे ने लार्ड माउंटबेटन पर एक पुस्तक लिखी है, जिसका नाम है 'माउंटबेटन एंड इनडिपेंडेंट इंडिया : 16 अगस्त, 1947–18 जून, 1948' (विकास, 1984) । लार्ड माउंटबेटन भारत के अंतिम वाइसराय थे और स्वतंत्र भारत के पहले गवर्नर-जनरल । लेखकों ने माउंटबेटन के साथ एक भेंट की चर्चा की है और माउंटबेटन ने जो उनको बताया वह भी लिखा है । वे कहते हैं कि माउंटबेटन ने उनको यह बताया था कि भारत जब स्वतंत्र हुआ तो पंडित नेहरू और सरदार पटेल मेरे आस पाए और कहने लगे कि हमें केवल स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ने का अनुभव है, हमें प्रशासन का अनुभव तो है नहीं । इसलिए हमारी ओर से इस देश को चलाने के लिए आप रुक जाइए । माउंटबेटन रुक गए ।[15] इस समय न तो माउंटबेटन हैं, न पंडित जी और न ही सरदार किंतु लिखने वाले तो लिख गए, कहने वाले कह भी गए—यदि कहा हो तो—और यह तो तथ्य है ही कि माउंटबेटन रुके थे । ट्रेवेल्यन के शब्दों में स्वतंत्र भारत में अंग्रेज का राज तो रहा ही । और अब यह देखने की बात है कि आज जो शासन-प्रशासन चल रहा है उसमें कहां तक अंग्रेजी और पाश्चात्य विचारधारा काम कर रही है और कहां तक भारतीय विचारधारा भारतीय दृष्टिकोण से क्रियाशील है । अपने अंतिम दिनों में अर्थात् स्वतंत्र भारत के प्रारंभ में ही गांधी जी देश के शासन से दूर क्यों हो गए थे ? गांधी जी को विदेशी वस्त्रों की होली क्यों जलानी पड़ी थी और कटिवस्त्र पहन कर चरखा क्यों कातना पड़ा था ? इन प्रश्नों का उत्तर मकाले, ट्रेवेल्यन और चार्ल्स ग्रांट के लेखों से और अंग्रेजी शिक्षा-साम्राज्य के पन्नों से खोजा जा सकता है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रिटेन में प्रचलित शिक्षा-पद्धति और भारत में चलाई जाने वाली अंग्रेजी शिक्षा पद्धति के उद्देश्य और लक्ष्य दोनों भिन्न थे । ब्रिटिश पद्धति का उद्देश्य था स्वतंत्र ब्रिटेन की सेवा और साम्राज्य-विस्तार, उसका लक्ष्य था देशभक्त और स्वतंत्र वृत्ति वीर शासकों और प्रशासकों का निर्माण । भारतीय अंग्रेजी शिक्षा पद्धति का उद्देश्य था साम्राज्य-सेवा और तदर्थ राजभक्त दासवृत्ति सेवकों का निर्माण । इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए आवश्यक था कि शिक्षार्थियों के मन, वचन और कर्म को बदलकर उनका सांस्कृतिक परिवर्तन कर दिया जाए,

14. 'द एज्यूकेशन आफ दि पीपल आफ इंडिया' (लंदन, 1838), पृ० 194-95 एवं सुंदरलाल, 'भारत में अंग्रेजी राज' (इलाहाबाद, 1938), III, पृ० 1148-50

15. देखिए : 'टाइम्ज़ आफ इंडिया' (दिल्ली, 15-4-84), रफीक जकारिया द्वारा लिखित रिव्यू ।

धार्मिक परिवर्तन भी किया जा सके तो सबसे अच्छा । इसी कारण भारतीय भाषा, साहित्य, इतिहास और परंपरा, धर्म और संस्कृति इत्यादि सब पाठ्यक्रम से अलग कर दिए गए । कलकत्ता मदरसा और संस्कृत कालेज में नया प्रवेश पाने वाले विद्यार्थियों की छात्रवृत्तियां बंद कर दी गईं । छोड़कर जाने वाले संस्कृत और अरबी के प्राध्यापकों के स्थान खाली रखे गए और संस्कृत-अरबी की पुस्तकों का प्रकाशन बंद कर दिया गया ।

केवल अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी-साहित्य । अब देखना यह है कि प्रारंभ से दुहाई तो दी जा रही थी अंग्रेजी भाषा और उसके माध्यम से विज्ञान की शिक्षा की, फिर यह साहित्य पर इतना बल क्यों ? और साइंस टेक्नोलजी इत्यादि का क्या बना ? साइंस के स्थान पर साहित्य इसलिए रखा गया कि साइंस की भाषा, चाहे वह कोई सी हो, निर्वर्ण होती है अर्थात् उसमें कोई सभ्यता या संस्कृति या धर्म संबंधी भावनात्मक रंग नहीं होता । इसके विपरीत मकाले के प्रस्ताव के अनुसार भारतीय शिक्षार्थी वर्ग पर तो अंग्रेजियत का रंग चढ़ाना था । साहित्य मनुष्य की भावनाओं को छूता है, और नौजवानों के स्वप्नों के संसार में अंग्रेजी जैसा समृद्ध लौकिक साहित्य तो उनकी भावनाओं को बिजली की तरह छूता है । अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन से यह अपेक्षा नहीं की जाती थी कि विद्यार्थियों की भावनाओं की झंकार उनको भावना के आदि स्रोत से जोड़ेगी—आदि स्रोत, शाश्वत ब्रह्म और शुद्ध चेतना के माध्यम से सृष्टि और इतिहास के परिवेश में उसकी अभिव्यक्ति । यदि भारतीय शिक्षा भारतीय दर्शननिष्ठ शिक्षा होती तो वह भारतीय भाषा, साहित्य, इतिहास एवं ज्ञान-विज्ञान के रूप में निराकार के साकार और साकार के सर्जन की कला-शिक्षा होती । यदि वह ब्रिटिश लिबरल पद्धति की शिक्षा भी होती तो ग्रीक, लैटिन, संस्कृत, अरबी, अंग्रेजी, हिंदी, चरोकी इत्यादि किसी भी भाषा, साहित्य या विज्ञान के माध्यम से स्वतंत्र वृत्ति-प्रशासन-वर्ग-निर्माणाभिमुखी शिक्षा होती । किंतु भारतीय शिक्षार्थियों से तो इतनी अपेक्षा की ही नहीं जा रही थी । उनसे तो अपेक्षा यह की जाती थी कि साहित्यिक भावनाएं अंग्रेजी परिवेश में उनको अंग्रेजी आचार-विचार, सभ्यता, संस्कृति और धर्म से जोड़ेंगी और मौलिक भारतीयता से तोड़ेंगी । अंग्रेजी भाषा, साहित्य, ईसाइयत, साम्राज्य और पाश्चात्य सभ्यता-संस्कृति ये सब एक ही संदेश की विभिन्न अभिव्यक्तियों के रूप में सामने आएंगे, ऐसी आशा थी । इसीलिए मकाले ने केवल मात्र अंग्रेजी भाषा और साहित्य के दांव पर समिति के अध्यक्ष पद को भी लगा दिया था । मकाले का लक्ष्य एक था : भारतीयता का उन्मूलन और पाश्चात्य संस्कृति का बीजारोपण ।[16] एकमात्र अंग्रेजी के माध्यम से ।

16. देखिए : नार्मन जैफर्ज़, जॉन प्रेस द्वारा संपादित 'कामनवैल्थ लिट्रेचर' (हाइनमन, 1965), भूमिका, पृ० 15

12
एकैवेति चरैवेति

मकाले का प्रस्ताव गवर्नर-जनरल द्वारा 7 मार्च, 1835 को स्वीकार कर लिया गया। एच० टी० प्रिंसप उस समय शिक्षा समिति के सचिव थे। प्रस्ताव की स्वीकृति के पश्चात् उन्होंने रोषपूर्वक अपनी असहमति प्रकट की किंतु उस पर कोई ध्यान नहीं दिया गया।

प्रिंसप भारतीय भाषा और शिक्षा पद्धति के समर्थक थे। वे भाषा और शिक्षा पद्धति के साथ-साथ भारतीय साहित्य, सभ्यता और संस्कृति के भी समर्थक थे। वे और उनके साथी ऐसा मानते थे कि भारतीय भाषा, साहित्य और संस्कृति ही भारत में सरकारी शिक्षा के आधार माने जाने चाहिए। वे यह तो मानते थे कि भारत उस समय किसी प्रकार से भी उन्नति के पथ पर अग्रसर नहीं था, किंतु यह भी मानते थे कि जातीय और देशीय भाषा साहित्य और संस्कृति के अंकुर तो मनुष्य के मानस-पटल पर संस्कार रूप में विद्यमान रहते ही हैं। इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य को लेकर प्रिंसप और उनके साथी ऐसा कहते थे कि शिक्षा देते समय पहले इन संस्कारों का उद्‌बोधन करना चाहिए और उसके पश्चात् यूरोपियन साइंस और साहित्य से विचार लेकर इन बुनियादी संस्कारों और विचारों में नई शक्ति और स्फूर्ति का संचार किया जाना चाहिए। प्रिंसप और उनके साथियों के यूरोपियन साइंस और साहित्य की सहायता से भारतीय शिक्षा और साहित्य के पुनर्नवन के सिद्धांत को 'ग्राफ्ट सिद्धांत' का नाम दिया गया है। बैंटिंक द्वारा मकाले के प्रस्ताव की स्वीकृति के साथ ही 'ग्राफ्ट सिद्धांत' भी समाप्त हो गया।

'ग्राफ्ट सिद्धांत' के साथ ही एक और सिद्धांत भी सामने आया था, और वह था विकास सिद्धांत। विकास सिद्धांत के समर्थक थे विलियम एडम। विलियम एडम प्रिंसप से भी आगे बढ़कर भारतीय भाषा, साहित्य, शिक्षा और व्यवस्था के समर्थक थे।[1] एडम महोदय का कहना था कि प्रथम तो प्रारंभिक शिक्षा सामग्री भारत में ही उपलब्ध है, उसी का पूरा-पूरा उपयोग-प्रयोग करना चाहिए, और उसके पश्चात्, किंतु उसी के परिवर्द्धन के रूप में, उस सामग्री और उन व्यवस्थाओं की सहायता लेनी चाहिए जो यूरोप के अनुभव और इतिहास से उपलब्ध हो सकती हैं। विकासार्थ भारतीय सामग्री और व्यवस्था के ऊपर यूरोपियन सामग्री और व्यवस्था का पैवंद चढ़ा देना समय की मांग थी।[2] प्रिंसप और उनके साथी भारतीय शिक्षा पद्धति, भाषा और

1. देखिए : बी०सी० जोशी-संपादित 'राममोहन राय', पृ० 25
2. सर रिचर्ड टेम्पल, जेम्ज़ टॉमसन (एसेक्स, 1882), पृ० 29

साहित्य के महत्त्व को तो जानते थे और यूरोपियन भाषा, शिक्षा और व्यवस्था से सहायतार्थ सामग्री लेकर भारतीय बूटे पर पैवंद चढ़ाने के महत्त्व को भी मानते थे। किंतु उनमें अंतर यह था कि एडम भारतीय समाज की बुनियादी सामग्री और व्यवस्था पर अधिक बल देते थे। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वे अंग्रेजों के अंग्रेज रूप में काम करने की बजाय इस बात पर जोर देते थे कि अंग्रेज भारत में भारतीय बनकर भारतीयों के साथ काम करें। इसी कारण उनके सिद्धांत को 'विकास-सिद्धांत' कहा गया है और इसी भारत-प्रेम के कारण निखालिस अंग्रेज उनको 'दूसरा पतित एडम' कहा करते थे।

विलियम एडम ने अपने जो विचार बनाए थे वे बंगाल में प्रारंभिक शिक्षा पद्धति के सर्वेक्षण के आधार पर बनाए थे। विलियम बैंटिंक ने एडम को बंगाल के गांव-गांव का सर्वेक्षण करने का काम दिया था। एडम ने सर्वेक्षण किया और उसके आधार पर एक रिपोर्ट तैयार की। इस सर्वेक्षण के दौरान एडम बंगाल में जनता के काफी निकट आ गए थे और उनके जीवन की आंतरिक और वास्तविक समस्याओं को समझ कर उनकी वैयक्तिक और सामाजिक तह तक पहुंच गए थे। भारतीयों के प्रति उनका दृष्टिकोण तिरस्कारपूर्ण नहीं था बल्कि प्रेम और सद्‌भावनापूर्ण था। इस प्रकार की सद्‌भावना के साथ-साथ एडम मकाले महोदय से सर्वथा भिन्न प्रकृति और विचारधारा रखते थे। मकाले भारत और भारतीयता को ब्रिटिश दृष्टिकोण से देखते थे। एडम अंग्रेज होते हुए भी उनको भारतीय दृष्टिकोण से देखते थे। इसीलिए उन्होंने भारत में ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रतिपादित शिक्षा पद्धति को भी भारतीय दृष्टिकोण से ही देखा।

मकाले के प्रस्ताव के अनुसार भारतीय शिक्षा पद्धति पूर्णतया अंग्रेजी पद्धति होनी चाहिए थी। एडम के मतानुसार वह आधारभूत रूप से भारतीय होनी चाहिए थी। मकाले के अनुसार शिक्षा केवल वर्ग विशेष के लिए होनी चाहिए थी किंतु एडम के मतानुसार शिक्षा जनसाधारण के लिए आवश्यक थी। मकाले का विचार था कि इसी शिक्षा-प्राप्त वर्ग विशेष के माध्यम से जनता सरकार के निकट आएगी। एडम का विचार था कि ऐसी शिक्षा से सरकार और जनता के बीच का फासला और बढ़ जाएगा। इसीलिए एडम ने यह सुझाव दिया था कि सरकार को भारतीय जनता के साथ मिलकर शिक्षा कार्य करना चाहिए, उनको दूर रख के नहीं। एडम का विश्वास था कि यदि भारत के लिए काम करना है और सफलतापूर्वक करना है तो हमें उनको स्वेच्छा से और समझदारी से काम करने के लिए अपने साथ जोड़ना पड़ेगा। संक्षेप में कहना यह है कि हमें ऐसे ढंग से काम करना है कि वे हमारे नेतृत्व में अपनी उन्नति स्वयं कर सकें। और ऐसा तभी हो सकता है जब हम स्वयं अपने आप को और अपनी उन्नति को उनके और उनकी उन्नति एवं परंपरा के साथ जोड़ें।[3]

मकाले के शिक्षा प्रस्ताव के अनुसार अंग्रेजी शिक्षा को भारत की परंपरा के किसी भी अंग अर्थात् संस्था, संस्थान या व्यवस्था से नहीं जोड़ा जाना था। मकाले मार्का शिक्षा सर्वथा विदेशी प्रकार की शिक्षा थी। एडम का विश्वास था कि भारत की शिक्षा भारत के समाज और सभ्यता

3. एडम्ज़ रिपोर्ट्स (कलकत्ता संस्करण), पृ० 5, 8, 9

के अनुरूप होनी चाहिए और उसका आधार, प्रकार और व्यवस्था पूर्णतया भारतीय होनी चाहिए। उन्हीं के अपने शब्दों में, ऐसी व्यवस्था जिस हद तक भी विद्यमान हो, जैसी अवस्था में हो, उन्नतिशील हो, अवनतिग्रस्त हो अथवा खड़े पानी की तरह से खड़ी ही हो, वही व्यवस्था उसी हालत में इस देश की शिक्षा की बुनियाद और आधार बन सकेगी। उस बुनियाद को हम गहरी बना सकते हैं, चौड़ी कर सकते है, विशाल बना सकते हैं और उस पर बनी इमारत को सुंदर बना सकते हैं, किंतु बुनियाद को कदापि नहीं बदल सकते। बुनियाद तो वही रहेगी और उसी पर भवन बनना चाहिए। एडम के मतानुसार समाज, परंपरा, शिक्षा व्यवस्था और नए उद्देश्य और नए लक्ष्य ये सब समाज के जीवन के मिले-जुले तथ्य हैं और एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। इनको अलग-अलग नहीं करना चाहिए।

एडम ने अपनी रिपोर्ट में लिखा कि सभी लोग, विशेषकर बिना पढ़े या कम पढ़े-लिखे लोग व्यवस्था और परंपरा के रूप और आत्मा दोनों को एक जैसा ही महत्त्व देते हैं। रूप सदा उनके अपने रीति-रिवाज के अनुरूप होते हैं। किंतु सुधारक जब आते हैं तो बहुधा पुरानी रूढ़ियों को अर्थात् परंपरा से चली आ रही व्यवस्था को भंग कर के तोड़-फोड़ कर डालते हैं। परिणाम यह होता है कि लोग ऐसे सुधार का विरोध करते हैं। एडम ने यह सुझाव दिया कि हमें भारतीय लोगों के विरोध से बचना चाहिए और उनकी परंपरा का उपयोग करना चाहिए। उन्होंने कहा कि वे परंपराएं प्रारंभ में कैसी ही रही हों फिर भी समय के गुजरने के साथ लोगों के आचार-विचार, शील-स्वभाव और चरित्र के अनुकूल बन चुकी हैं, और यदि हम कोई अन्य प्रकार की व्यवस्था कायम करेंगे तो वह लोगों के उतना अनुकूल नहीं बैठेगी। इसलिए हम जो भी योजना शिक्षा के विकास और उन्नति के लिए बनाएं, वह स्थायी रूप में सफल तभी होगी जबकि वह वर्तमान परंपरा पर आधारित होगी, क्योंकि ऐसी परंपरा प्राचीन काल से चली आ रही है, लोग उसे भली प्रकार से जानते हैं और उसके प्रति श्रद्धा की भावना रखते हैं।[4]

मकाले ने अपने प्रस्ताव में फिल्टरेशन सिद्धांत का सुझाव दिया था। उनका कहना था—अंग्रेजी से विचार उच्च शिक्षित वर्ग को मिलेंगे और उनसे छन-छन कर नीचे छोटे वर्ग तक पहुंचेंगे। किंतु एडम इस सिद्धांत के समर्थक नहीं थे। उनका मानना था कि शिक्षा उत्तराभिमुखी होनी चाहिए अर्थात् व्यवस्था की दिशा नीचे से ऊपर को होनी चाहिए न कि अधोमुखी—ऊपर से नीचे की ओर आने वाली। उन्होंने कहा कि उन्नति व्यक्ति से प्रारंभ होती है और विकसित होते-होते समाज तक पहुंचती है। यह माना कि जो व्यक्ति समाज को प्रेरणा देते हैं वे निस्संदेह समाज के ऊंचे अर्थात् बुद्धिजीवी वर्ग में ही मिलते हैं। किंतु इस देश की एक विशेषता है, और वह यह कि आवश्यक नहीं कि बुद्धिजीवी लोग सर्वथा या कम से कम मुख्यतया उस वर्ग से ही आएं जो सामाजिक स्तर अथवा धन की दृष्टि से ऊंचा हो। हमारी व्यवस्था के लिए यह भी आवश्यक नहीं कि हम पहले बड़े क्षेत्रों में काम करें और फिर छोटे-छोटे स्थानों को लेकर काम करें। हमें इससे उलट करना चाहिए। प्रत्येक उच्च शिक्षा संस्थान की सफलता इस बात पर

4. 'एडम्ज़ रिपोर्ट्स' (कलकत्ता संस्करण), पृ० 5, 8, 9

निर्भर करेगी कि उसमें विद्यार्थी छोटी संस्थाओं से आएं। इसी कारण हमें छोटी पाठशालाओं की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। बच्चों को वर्णमाला सीखने के लिए कालेज में जाने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। ऊंची और पक्की इमारत के लिए बुनियाद चौड़ी और गहरी होनी चाहिए। भारतीय शिक्षा की बुनियाद भी यहां के बृहज्जनसमुदाय पर रखी जानी चाहिए, वर्ग विशेष पर नहीं। शिक्षा का पुनर्निर्माण करने में हर प्रकार के संस्थान और हर स्तर के शिक्षण को मिलाकर बड़े सुंदर और स्वस्थ परिणाम तक पहुंचा जा सकता है।[5]

एडम प्रथम सोपान से प्रारंभ करके ऊंचे सोपान तक पहुंचने में विश्वास करते थे। छोटे से छोटा व्यक्ति, छोटे से छोटा वर्ग, प्राथमिक संस्थान, साधारण रीति-रिवाज जो जनसामान्य के दिल में घर कर चुके थे, साधारण स्थानीय अध्यापक, ये सब उनकी दृष्टि में महत्त्व रखते थे। इनसे प्रारंभ करके ही और इनको साथ लेकर इन्हीं के बीच गुजरते हुए शिक्षा के उच्चतम स्तर तक पहुंचना संभव था। यही अच्छा भी होता, क्योंकि यह पद्धति नई होते हुए भी समाज और उनकी परंपरा के बीच से ही उभरकर विकास को प्राप्त होती। इसको सफल बनाने के लिए भी जनसाधारण को साथ लेना उचित था और यदि वे साथ होते तो जनता और सरकार के दोनों पारस्परिक सहयोग से एक नई शिक्षा पद्धति का विकास हो जाता। इस पद्धति में स्थानीय भाषा, स्थानीय और परंपरागत सभी सामग्री का उचित प्रयोग हो जाना था और नई परिस्थितियों, नई आवश्यकताओं के अनुसार सरकार और पश्चिमीय उपलब्धियों के सहयोग और सहायता से स्थानीय परंपरा का पुनर्नवन होकर एक नवीन और सशक्त प्रणाली का जन्म हो जाता। यह प्रणाली भारतीय और अंग्रेजी दोनों प्रणालियों का समन्वय होकर एक नए स्वस्थ समाज और सामाजिक व्यवस्था को जन्म दे सकती थी और भविष्य के लिए उसका सतत निर्माण भी करती रहती।

एडम की रिपोर्ट और उनके प्रस्ताव पर एक सज्जन शेक्सपियर के विचार लिये गए थे, जो उन्होंने अपनी टिप्पणी में लिख दिए। टिप्पणी समेत यह रिपोर्ट मकाले के सामने रखी गई। मकाले के विचार तो उनके प्रस्ताव में व्यक्त किए ही जा चुके थे और गवर्नर-जनरल द्वारा स्वीकृत भी हो चुके थे। एडम पूर्व-पश्चिम की बात कर रहे थे और मकाले केवल पश्चिम की, और पश्चिम के साथ एडम के पूर्व संबंधी विचारों का कोई मेल था नहीं। उन्होंने एडम के साथ असहमति प्रकट करते हुए लिखा कि एडम द्वारा सुझाए गए लंबे-चौड़े क्रियात्मक प्रोग्राम को हाथ में लेने के लिए हम अभी तैयार नहीं हैं। मुझे ऐसा कोई भी तरीका नहीं सूझ रहा जिससे हम वर्तमान प्राथमिक स्कूलों के अध्यापकों की योग्यता को बढ़ा सकें या उनके स्थान पर दूसरे अधिक योग्यता प्राप्त अध्यापकों को ले सकें। मकाले को अध्यापकों की कमी दीखी और उन्होंने यह महसूस किया कि यह कमी तो समय लेगी और पता नहीं कब पूरी हो सकेगी। किंतु उन्होंने कहा कि एक पीढ़ी के समय में हम अगली पीढ़ी के लिए अध्यापक तैयार कर सकते हैं। एक पीढ़ी के समय में यदि हम सुशिक्षित बंगालियों की एक क्लास अर्थात् वर्ग तैयार कर सकेंगे तो वे यथा समय वर्तमान अयोग्य अध्यापकों का स्थान ले लेंगे और यह परिवर्तन अशांतिपूर्वक भी

5. 'एडम्ज़ रिपोर्ट्स' (कलकत्ता संस्करण), पृ० 357-58

नहीं होगा । जहां तक उन स्कूल मास्टरों का संबंध है जो पहले ही अपनी जगह बैठे हैं उनको कोई नई शिक्षा (अर्थात् ट्रेनिंग) देना संभव नहीं है । एडम ने सुझाव दिया था कि वर्तमान अध्यापकों को ही नई शिक्षा देकर उन्हीं से काम आगे चलाया जाए । शेक्सपियर एडम के इस विचार से सहमत नहीं हुए थे । मकाले ने भी शेक्सपियर से ही सहमति प्रकट की । वर्तमान प्रारंभिक स्कूलों में नए अध्यापक भेजने के लिए मकाले तैयार नहीं हुए । उन्होंने लिख दिया कि यदि हम चाहें भी तो ऐसा नहीं कर सकते क्योंकि हमारे पास आदमी नहीं हैं और पैसा तो है ही नहीं ।[6]

एडम ने यह सुझाया कि किसी प्रकार जनता की शिक्षा जनता के सहयोग से भारतीय परंपरा के जारी रहते संपन्न हो सकती है । मकाले ने अपने विचारानुरूप उस पर नकारात्मक सम्मति दे दी । अब टीका-टिप्पणी समेत एडम की रिपोर्ट गवर्नर-जनरल लार्ड आकलैंड के सामने रखी गई । आकलैंड महोदय ने उसे पूरे तौर पर चौपट कर दिया और इस ढंग से उसे रद्द किया कि वह आगे भी कभी सांस न ले सके । पहले तो उन्होंने एडम और उनकी रिपोर्ट की अंग्रेजी शैली में प्रशंसा की और अंग्रेजी शैली में ही जनता के बीच शिक्षा-अभाव पर हार्दिक दुख प्रकट किया । किंतु दुखी के दुख पर और उस शिक्षा-अभाव के दुख से परेशान एडम महोदय की परेशानी पर कोई चिंता व्यक्त नहीं की, उन्हें कोई चिंता हुई भी नहीं । हां, उन्होंने यह अवश्य कहा कि ऐसे भयंकर शिक्षा-अभाव को दूर करने के लिए धनी-मानी उदार लोग उत्साहपूर्वक मैदान में आएं तो कितना अच्छा हो । उन्होंने मकाले के साथ सहमति प्रकट करते हुए लिखा कि वह समय कभी नहीं आएगा जब सरकार इस उदार वर्ग के साथ इस पुण्य कार्य में सम्मिलित हो सकेगी । क्योंकि अभी सफलता की आशा की किरण कोई दीख नहीं पा रही । एडम ने यह लिखा था कि जनता में शिक्षा का अभाव इतना अधिक है कि उन्हें यह भी पता नहीं है कि अज्ञान के कारण उन्हें कितनी हानि हो रही है और साथ में वे इतने गरीब हैं कि उनमें शिक्षा-अभाव का निराकरण करने के लिए कोई भी समर्थ नहीं है । एडम ने तो यह सुझाने का प्रयास किया था कि ऐसे निस्सहाय वर्ग की सहायता करना पुण्य का काम होगा । किंतु लार्ड आकलैंड ने केवल यह आश्वासन देकर संतोष कर लिया कि यदि हालत इतनी नाजुक है तो ऐसे मरीज को हमें भी हाथ नहीं लगाना चाहिए । उन्होंने लिखा कि इतने कष्टप्रद क्षेत्र में प्रवेश करके सरकार को अपना प्रयास विफल नहीं करना चाहिए । साथ में यह भी लिखा कि इस पिछड़े जनसमुदाय को थोड़ा बहुत ज्ञान हम दे भी पाए तो भी उससे भारत के लोगों की कोई विशेष उन्नति होने से रही । इसलिए पहला कदम सरकार का यही होना चाहिए कि भारत के ऊंचे और मध्यम वर्ग को उच्च शिक्षा दी जाए और उनमें अच्छी भावना पैदा की जाए । ऐसा लिख चुकने के बाद भी उन्होंने जनता को भुलाया नहीं । उन्होंने जोरदार शब्दों में लिख दिया कि जब कभी उपयुक्त समय आने पर एडम द्वारा प्रस्तावित स्कीम को हाथ में लिया जाए तो उसे बड़े पैमाने पर और पूरे उत्साह के साथ हाथ में लिया जाए । उन्होंने अंत में यह भी लिख दिया कि यह

6. 'एडम्ज़ रिपोर्ट्स', पृ० IX, 1-III

स्कीम उस समय तक हाथ में न ली जाए जब तक कि सरकार को यह विश्वास न हो जाए कि इस स्कीम के परिनिरीक्षण के लिए सरकार पूर्णतया और उत्साहपूर्वक साधन-संपन्न है ।[7]

सरकार जन-सेवा और जन-शिक्षा के लिए साधन-संपन्न हो पाई या नहीं यह सबकी जानी-पहचानी बात है । वर्तमान समय के लिए तो शिक्षार्थियों की लिस्ट में से जनसामान्य का नाम काट ही दिया गया, केवल उच्च वर्ग और मध्यम वर्ग का नाम रह गया । भारतीय परंपरा का नाम भी मिटा दिया गया । केवल अंग्रेजी परंपरा का भारतीयकरण करके उसे ही इंपोर्ट करने का प्रोग्राम बनाया गया । मकाले, बैंटिंक, आकलैंड सभी राज-सेवा में रत थे और नई शिक्षा पद्धति के माध्यम से (पद्धति मेड इन इंग्लैंड नहीं, बल्कि मेड ऐज़ इन इंग्लैंड) राज-सेवारत स्नातकों के निर्माण के लिए ऊंचे शिक्षालयों को खोलने या खुलवाने का प्रयास करने लगे ।

पूरे कार्यक्रम में केवल एक कमी रह गई थी । अंग्रेजी अभी सरकारी आदेश के द्वारा राजभाषा नहीं बनी थी । 1837 में बंगाल में अंग्रेजी को राजभाषा बना दिया गया । 1844 में लार्ड हार्डिंग की ओर से एक घोषणा-पत्र जारी किया गया जिसके द्वारा सरकारी नौकरी के लिए कर्मचारियों का चयन केवल अंग्रेजी भाषा-ज्ञान और अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्ति के आधार पर किया जाने लगा । इस घोषणा में कहा गया कि बंगाल में शिक्षा की वर्तमान स्थिति पर गवर्नर-जनरल ने विचार किया है । वे इस मत के हैं कि अंग्रेजी शिक्षा को यथासंभव प्रोत्साहन देना अपेक्षित है । तदर्थ अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त युवकों को सरकारी सेवा का समुचित अवसर प्रदान किया जाना चाहिए । इससे न केवल उनको अपनी व्यक्तिगत उपलब्धियों का फल मिलेगा बल्कि सरकार को भी उनकी सेवाओं से शीघ्रतम और अधिकतम लाभ उठाने का अवसर मिलेगा । पिछले कुछ वर्षों में सरकार एवं प्राइवेट व्यक्तियों और संस्थाओं ने जन-शिक्षा के क्षेत्र में जो कार्य किया है वह भी इस प्रकार फलीभूत हो पाएगा । अतः गवर्नर-जनरल का आदेश है कि सरकारी सेवा में नियुक्ति के समय प्रत्येक स्थान पर जहां तक संभव हो पहले उन युवकों का चयन किया जाए जिन्होंने सरकार या प्राइवेट व्यक्तियों द्वारा स्थापित संस्थाओं में अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त की है और विशेषकर उनका चयन किया जाए जिन्होंने असाधारण योग्यता अर्जित की है ।[8]

केवल अंग्रेजी भाषा, अंग्रेजी शिक्षा, अंग्रेजी सेवा, स्वयं-सेवा, राज-सेवा जीवन के नए प्रतिमान बन गए । दूसरी ओर साम्राज्यवादी आशाएं भी किसी न किसी रूप में फलीभूत होने लगीं । मकाले एक पीढ़ी बाद के परिणामों की ओर संकेत कर चुके थे । 1863 में एच०एच० विल्सन ने राजभक्त स्नातकों के बारे में कहा कि अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त नौजवानों के मन में अपने देश के लिए कोई सहानुभूति या सद्भावना नहीं रह गई है ।[9]

7. 'एडम्ज़ रिपोर्ट्स', पृ० IX, 1-III
8. उद्धृत : नूरुल्ला और नायक, 'ए हिस्ट्री आफ एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 146
9. सुंदरलाल, 'भारत में अंग्रेजी राज', III, पृ० 1144, 1148

13
स्व-भाव और पर-भाव

मनुष्य स्वयं से झूठ नहीं बोल सकता, वह स्व-भाव से सत्यभाषी है । मनुष्य स्व-भाव से मिथ्याचारी भी नहीं है । मन की गहराइयों में उतरकर वह जिन विचारों, भावनाओं और जीवन-तथ्यों को देखता है उन्हीं को स्वयं के लिए अभिव्यक्त और कार्यान्वित करता है । अपने परिवेश के संपर्क में आना भी उसके लिए स्वाभाविक और आवश्यक है । किंतु जैसे-जैसे वह अपने परिवेश से जूझता है तैसे-तैसे उसके अपने स्व-भाव और परिवेश के पर-भाव में संघर्ष होता है और कई बार उसका स्व-भाव पर-भाव के नीचे दबने लगता है । तब उस पर-भाव के दबाव में स्व-भाव की अवहेलना करके उसे मिथ्याभाषण और मिथ्याचार दोनों करने पड़ जाते हैं । भारत में स्थित अंग्रेजी सत्ता और अंग्रेज सत्ताधारी अपने परिवेश से जूझ रहे थे और साथ ही नई परिस्थितियों का निर्माण भी कर रहे थे । स्थितिवश उनको पर-भाव के नीचे दबना पड़ा । स्व-भाव और पर-भाव का यह द्वंद्व हमें आरंभ से ही दिखाई देता है, विशेषकर शिक्षा और भाषा के क्षेत्र में । निर्द्वंद्व होने की शक्ति वे नहीं जुटा पाए, सत्ता से मजबूर थे । यह मजबूरी विशेषकर भारतीय भाषाओं के विषय में दीखती है ।

चार्ल्स ग्रांट भी कभी-कभी स्वच्छ स्वभाव से समस्याओं पर विचार करते और सही हल सुझा देते थे । एक बार भारत की शिक्षा के संदर्भ में उन्होंने कहा कि विदेश में शिक्षा-प्रसार के दो तरीके हैं, एक तो विदेशियों की अपनी भाषा के माध्यम से, और दूसरा हमारी विदेशी भाषा के माध्यम से । साधारणतया जब विदेशी लोग शिक्षा-प्रचार करते हैं तो शिक्षार्थियों की अपनी भाषा के माध्यम से करते हैं । कारण स्वाभाविक है और अनिवार्य भी : किसी और भाषा के माध्यम से वे उन्हें कुछ समझा ही नहीं सकते थे । यह विचार उन्होंने भारत के संबंध में व्यक्त किया था । उनके विचारानुसार अंग्रेज अध्यापक बिना किसी कठिनाई के 'विदेशी भाषा' अर्थात् भारतीय भाषा सीख सकते । अतः वे भारतीयों को शिक्षा देने के लिए तैयार किए जा सकते थे और उसी समय में भारतीयों को भी शिक्षा देने के लिए तैयार किया जा सकता था । यही तरीका किसी और तरीके की अपेक्षा शीघ्रतर कार्यान्वित किया जा सकता था । साथ में यह लाभ भी था कि शिक्षा वस्तु का चयन भी अंग्रेज अध्यापक स्वयं कर सकते थे । इस तरीके का नाम था अंतःसंचार और इसके लिए अध्यापक को द्विभाषी होना आवश्यक था ।[1]

1. उद्धृत : नूरुल्ला और नायक, 'ए हिस्ट्री आफ एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 72

किंतु सत्ता-परिस्थितिवश ग्रांट महोदय को स्व-भाव और प्रकृति दोनों को भूल जाना पड़ा । उन्होंने सोचा कि ऐसे तो निरंतर अनुवाद अथवा भाषा रूपांतर की समस्या खड़ी हो जाएगी । जब भी पढ़ाना अपेक्षित होगा अध्यापक को शब्दांतर करते ही रहना पड़ेगा और जितना भी शब्दांतर वह करेगा उसका वहीं समापन हो जाएगा अर्थात् यही शब्दांतर करते रहना पड़ेगा । शिक्षार्थियों को उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलेगा । आगे क्या है यह वे शब्दांतर के बिना जान ही नहीं पाएंगे । इसके विपरीत यदि वे अंग्रेजी भाषा को ही सीख-समझ लें तो जो कुछ भी उस भाषा में लिखा है वह सारा उनको उपलब्ध हो सकता है । इसी कारण ग्रांट ने कहा कि अंग्रेजी शिक्षा अंग्रेजी भाषा के माध्यम से दी जाए ।[2] वे यह भूल गए कि जैसे अंग्रेजी में पुस्तकें उपलब्ध थीं वैसे ही भारतीय भाषा में भी तो उपलब्ध कराई जा सकती थीं । वे यह भी भूल गए कि अंग्रेजी माध्यम से पढ़ने के समय शिक्षक के स्थान पर विद्यार्थी को निरंतर अनुवाद करते रहना पड़ेगा । पहले तो एक शिक्षक को अनुवाद करना था, अब सैकड़ों विद्यार्थियों को करना पड़ेगा । पर-भाव अर्थात् राज के आवेश में आकर वे शिक्षण के स्वाभाविक क्रम को भूल गए । स्वाभाविक भाषा तो मातृभाषा ही है । वह नहीं तो द्विभाषा प्रक्रिया का सहारा लिया जाना चाहिए । विदेशी भाषा तो स्वतः तीसरे स्थान पर आती है । ग्रांट ने यह क्रम उलट दिया और अंग्रेजी को प्रथम और मुख्य स्थान दे दिया । उनके मतानुसार समय आने पर हिंदू इस योग्य हो जाने थे कि अंग्रेजी के माध्यम से पढ़-पढ़ा सकें । एक पीढ़ी के समय के पश्चात् अंग्रेजी सारे भारत की शासन और शिक्षा की भाषा हो जाएगी, ऐसी आशा थी और इस भाषा-परिवर्तन का कारण पूरे तौर पर केवल राजनीतिक था ।[3] पहले तो एक पीढ़ी के समय में भारतीय भाषा-भाषी अध्यापक तैयार हो जाने थे, अब सारे शिक्षा-जगत को विदेशी भाषा से जूझना पड़ेगा । खेद की बात यह है कि राजनीतिक कारण भारत की स्वाभाविक भाषा और शिक्षा दोनों को ले बैठे ।

एल्फिंस्टन जैसे लब्ध-प्रतिष्ठ शिक्षाशास्त्री राजनीतिक कारणों से भारत की स्वाभाविक भाषा के पक्ष को छोड़कर अंग्रेजीवादी हो बैठे । वे ऐसा मानते थे कि अंग्रेजी कभी भी भारत के जनसाधारण की भाषा नहीं हो पाएगी । दुनिया में ऐसा कभी भी और कहीं भी नहीं हुआ ।[4] वे यह भी मानते थे कि भारतीय जनता की शिक्षा यदि सफल होगी तो केवल भारतीय भाषाओं के माध्यम से अन्यथा नहीं । और ऐसा मानते हुए भी वे अंग्रेजी की सिफ़ारिश कर बैठे । उदाहरणार्थ बंबई नेटिव स्कूल सोसाइटी का मत इस विषय में देखने योग्य है । सोसाइटी के मत में पाश्चात्य विचार (विद्या) भारतीय विद्यार्थियों तक केवल उनकी मातृभाषा के माध्यम से ही पहुंचाए जा सकते थे । इसलिए यदि यह विषयवस्तु भारतीय भाषा में लिखित रूपों में चयन कर ली जाए तो विद्यार्थी और अध्यापक दोनों का समय बर्बाद होने से बच जाएगा । सोसाइटी की मान्यता यह थी कि यूरोप का साहित्य, साइंस और आचार-संहिता कभी भी अंग्रेजी भाषा के माध्यम से

2. सय्यद महमूद, 'हिस्ट्री आफ इंग्लिश एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 11-13
3. उद्धृत : नूरुल्ला और नायक, 'ए हिस्ट्री आफ एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 73
4. वसु, 'इंडिया एज्यूकेशन इन पार्लमेंटरी पेपर्ज़', पृ० I. 290